संस्थान के प्रकाशन का प्रथम पुष्प

श्री सोमसूरि विरचित

आराधना प्रकरण

डॉ. जिनेन्द्र जैन
सत्यनारायण भारद्वाज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्थान के प्रकाशन का प्रथम पुष्प

श्री सोमसूरि विरचित

आराधना प्रकरण

(प्रस्तावना, सम्पादित मूलपाठ, हिन्दी अर्थ एवं पारिभाषिक शब्दावली सहित)

सम्पादक

डॉ. जिनेन्द्र जैन
(वरिष्ठ व्याख्याता)

सत्यनारायण भारद्वाज
(शोध-छात्र)

प्राकृत एवं जैनागम विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूं (राज.)

प्रकाशक

जैन अध्ययन एवं सिद्धान्त शोध संस्थान
जबलपुर (म. प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम संस्करण : 2002
प्रतियाँ : 500
© सम्पादकाधीन

अर्थ सौजन्य : श्री सुभाषचन्द जैन (पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर)

प्रकाशक

जैन अध्ययन एवं सिद्धान्त शोध संस्थान

द्वारा - श्रद्धा इलेक्ट्रिकल्स

पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर (म. प्र.)

मूल्य : 75/-

(इस पुस्तक के विक्रय से **जो भी राशि एकत्रित** होगी उससे पुनः प्रकाशन होगा।)

मुद्रक : **अरहंत कम्प्यूटर्स,**

डी - 193 ए, मोती मार्ग,

बापूनगर, जयपुर (राज.)

फोन : 0141-709332

आराधना प्रकरण : सम्पादक - डॉ. जिनेन्द्र जैन

सत्यनारायण भारद्वाज

Ārādhanā Prakaraṇa : Ed. by Dr. Jinendra Jain

Satya Narain Bhardwaj

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रणति निवेदन

卐 श्री गुरुवे नमः 卐

ब्रह्मानंदं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं,
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं,
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥

卐 卐 卐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

जैन अध्ययन एवं सिद्धान्त शोध संस्थान, प्राच्यविद्याओं की अकादमिक गतिविधियों के प्रोत्साहन और उन्हें संरक्षण-संवर्द्धन प्रदान करने वाला एक समर्पित संस्थान है। जैन धर्म-दर्शन, इतिहास, संस्कृति तथा प्राकृत साहित्य, भाषा, व्याकरण आदि विधाओं के अनुसंधान के साथ-साथ तत्सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन करना भी संस्थान का एक विशिष्ट उद्देश्य है।

संस्थान ने प्रथमतः प्राकृत एवं जैनविद्या की प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के सम्पादन और उनके प्रकाशन का कार्य अपने हाथों लिया है। प्रस्तुत रचना संस्थान की प्रथम प्रकाशित कृति है। 'प्रथम पुष्प' के रूप में इस पुस्तक को प्रकाशित कर संस्थान स्वयं गौरवान्वित हो रहा है।

जैन विश्वभारती संस्थान में प्राकृत एवं जैनागम विभाग के वरिष्ठ व्याख्याता डॉ. जिनेन्द्र जैन एवं शोध-छात्र श्री सत्यनारायण भारद्वाज द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित कृति 'आराधना प्रकरण' (श्री सोमसूरि विरचित) प्राकृत भाषा में निबद्ध है। इस लघु ग्रन्थ में आचरणीय बिन्दुओं को रेखांकित किया गया है। चतुःशरणभूत तत्त्वों का चिंतवन, अयतना एवं असातना का परित्याग और पुण्य रूप कृत-कार्यों की अनुमोदना आदि आचार धर्म के विविध पक्षों को ग्रन्थ में उद्घाटित कर उनकी महत्ता और उपयोगिता को सिद्ध किया गया है।

संस्थान सम्पादकद्वय के प्रति आभार व्यक्त करते हुए कृति को समाज के सुधी पाठक गणों के हाथों में सौंपते हुए हर्ष का अनुभव करता है। संस्थान सदैव प्रयासरत है कि इस तरह के साहित्य-प्रकाशन से समाज को लाभान्वित करता रहे।

अक्षयतृतीया
15 मई, 2002

मंत्री
जैन अध्ययन एवं सिद्धान्त शोध संस्थान
जबलपुर (म.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राक्कथन

व्यवहारजगत् में संग्रहीत, शास्त्र से उद्भासित एवं पूर्व जन्मान्तरीय संस्कार विशेष से उत्प्रेरित सर्वग्रहणसमर्थ प्रज्ञा जब स्फूर्त होती है और शाब्दिक आकार प्राप्त कर संसार में अभिव्यक्त होती है, तो उसे लोकव्यापार एवं शास्त्रीय भाषा में काव्य कहते हैं तथा उसके धारक जीव को कवि कहते हैं। साहित्य जगत् में प्राकृत साहित्य का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैनाचार्यों ने भारतीय साहित्य को समृद्ध एवं अद्वितीय ख्यातिलब्ध बनाने में भरपूर एवं अनवरत सहयोग दिया है। आगमों से लेकर व्याख्या साहित्य तक प्राकृत साहित्य की धारा निर्बाध रूप से प्रवाहमान रही है, और आज भी अनेक रूपों में बह रही है।

प्राकृत साहित्य में अनेक विधाएं प्रचलित हैं और उनमें आराधना विषयक विधा अपना विशिष्ट स्थान रखती है। प्राकृत साहित्य में तीर्थंकरों, महापुरुषों और आचार्यों आदि की स्तुतियाँ परम्परानुसार प्राप्त होती हैं। आगम साहित्य में भी यह परम्परा दृष्टिगोचर होती है। भक्ति, सेवा, समर्पण, पूजा, गुणोत्कीर्तन जैसी क्रियाओं में आराधना समाविष्ट होती है। आचार्यों ने भक्तिवशात् व अपने इष्ट के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए अनेक प्रकार से स्तुतियाँ, स्तोत्र, आराधना विषयक ग्रन्थ आदि का सृजन किया है। और इसी क्रम में श्री सोमसूरि ने अपने इष्ट के प्रति समर्पण भाव व्यक्त करने एवं आत्मकल्याण के साथ-साथ जन-कल्याण के लिए आराधना प्रकरण नामक लघु ग्रन्थ की रचना की है।

आराधना प्रकरण नामक पाण्डुलिपि की दो प्रतियाँ ही जैन विश्वभारती संस्थान के ग्रन्थागार में उपलब्ध हुईं, जो क्रमशः 1566 तथा 1591 क्रमांक पर संग्रहीत हैं। इन प्रतियों को ढूँढ़कर निकालने में परमपूज्य मुनिश्री सुमेरमल जी एवं श्री प्रमोद कुमार जी लाटा ने महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया।

इस प्रकरण ग्रंथ में 70 गाथाएँ हैं। अ-प्रति में कुल सत्रह पृष्ठ तथा नौ पन्ने हैं प्रत्येक पृष्ठ पर चार पंक्तियाँ टीका सहित दी हैं और इसके लिपिकार पं. श्री लाभविजय जी हैं। ब-प्रति में प्रत्येक पृष्ठ पर पंक्तियों की संख्या एक जैसी नहीं है। कुछ पृष्ठों पर पाँच पंक्ति तथा कुछ पृष्ठों पर छः पंक्तियाँ रचित हैं। इस प्रति के लिपिकार प्रेमविजयगणि हैं। यद्यपि दो प्रतियाँ होने से पाठ-सम्पादन में तो काफी सहयोग मिला है, लेकिन इसकी यदि एक-दो प्रतियाँ और उपलब्ध होती तो सम्पादन कार्य और भी अधिक प्रभावोत्पादक हो सकता था। इसके पाठ-सम्पादन में यद्यपि पूरी तरह से सचेतता बरती गयी है, फिर भी यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसे प्रतियों का अभाव स्वीकार कर प्रबुद्धजन उससे अवगत कराने का कष्ट करेंगे।

इस सम्पादन में प्रतिलिपियों में प्रयुक्त शब्दों के विभक्ति रूपों, धातु रूपों आदि को व्याकरण के अन्यान्य नियमों के अनुरूप शुद्ध किया है, जिसे पाद-टिप्पणी के रूप में प्रत्येक पृष्ठ के नीचे अंकित कर दिया है। कहीं-कहीं पर दोनों ही प्रतियों के पाठ को शुद्ध करके अर्थानुसार प्रयोग किया गया है तथा प्रतिलिपियों के पाठ को पाद-टिप्पण में सुरक्षित रखा है। यथा-चरणम्मि। प्रतिलिपियों में प्रयुक्त शब्द चरणंम्मि तथा चरणंमी है। कई जगह ऐसा संशोधन हमने किया है, जो अर्थ को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करता है। छन्द-पूर्ति की दृष्टि से भी मात्राओं को यथासंभव शुद्ध करके मूल में रखा है। किसी स्थान पर अनुवाद की दृष्टि से स्वर-व्यंजन परिवर्तन भी करना पड़ा है। इस प्रकार आराधना प्रकरण के सम्पादन एवं अध्ययन में इन्हीं प्रविधियों को अपनाते हुए यह कृति तैयार की गई है। इस कृति में मूलपाठ के साथ अन्वय एवं हिन्दी अनुवाद देते हुए प्रारम्भ में आराधना प्रकरण के विविध पक्षों पर समीक्षात्मक सामग्री दी गई है। जिसमें प्रति-परिचय, आराधना प्रकरण-परिचय एवं प्रतिपाद्य विषय, प्रकरण का अध्ययन, आराधना का अर्थ, स्वरूप, भेद आदि काव्यशास्त्रीय मीमांसा (छन्द, अलंकार, वैशिष्ट्य तथा भाषा) आदि समाविष्ट हैं। अन्त में परिशिष्ट दिया गया है। परिशिष्ट 'क' में ग्रन्थ में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों की पारिभाषिक शब्दावली एवं दूसरे 'ख' में गाथानुक्रमणिका दी गई है। अन्त में पाण्डुलिपि के सम्पादन-कार्य में सहयोगी ग्रन्थों की सूची "सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची" के रूप में दी गई है।

प्राच्य विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन और मूल ग्रन्थों के सम्पादन में अनेक तरह की कठिनाइयाँ आती हैं, जिससे सम्पादन-कार्य में कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में त्रुटि अथवा कमी रह जाती है। लेकिन सभी का सहयोग इस कमी और त्रुटि को दूर करने में सहायक बन जाता है। 'आराधना प्रकरण' नामक इस कृति के सम्पादन में भी यह बात महसूस की गई। इसके लिए जिन-जिन का सहयोग प्राप्त हुआ उन सबको हम स्मरण करें, उससे पहले समस्त आचार्यों और उनकी कृतियों के प्रति नतमस्तक होकर हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। उनके ग्रन्थों के सूत्रार्थ का अध्ययन करके ही कृति का सम्पादन किया जा सका है।

आराधना प्रकरण नामक कृति का प्रतिपाद्य आचरणीय है। इसे अपने जीवन में हम उतार सकें, इसके लिए गुरुओं का आशीर्वाद एवं दिशाबोध आवश्यक है। इसी क्रम में गणाधिपति आचार्य तुलसी को नमोऽस्तु करते हुए पूज्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी. युवाचार्यश्री महाश्रमणजी एवं साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी के चरणों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोटिशः प्रणति निवेदित हो। सदैव आपके आशीर्वाद और पाथेय की कामना करते हैं। आपकी कृपा और शुभाशीष से ही इस पाण्डुलिपि का सम्पादन कृति के रूप में प्रस्तुत हो सका है। इस कार्य के सम्पादन में पूज्य मुनिश्री सुमेरमल जी को भी सादर प्रणाम निवेदित करते हैं, जिन्होंने आराधना प्रकरण की हस्तलिखित प्राचीन दो प्रतियाँ उपलब्ध करवाईं। इन्हीं प्रतियों का उपयोग सम्पादन-कार्य में किया गया।

इस अवसर पर जैन विश्वभारती संस्थान के अधिकारियों और प्राध्यापकों तथा अन्य कर्मचारीगण को स्मरण कर उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। विशेष रूप से प्राकृत विभाग के अध्यक्ष डॉ. जगतराम भट्टाचार्य एवं प्रवाचक डॉ. हरिशंकर पाण्डेय का इस कार्य में विशेष सहयोग रहा है। डॉ. पाण्डेय जी ने ग्रन्थ के अनुवाद में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। अतः उनके एवं समस्त विश्वविद्यालय परिवार के प्रति हार्दिक आभार ज्ञापित करते हैं। विश्वविद्यालय के शोध-अध्येता श्री प्रमोद कुमार लाटा, श्री हेमवती नन्दन शर्मा एवं श्री अंशुमान शर्मा का इस कार्य में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ, एतदर्थ उन्हें इस अवसर पर हृदय से स्मरण करते हैं।

सदैव शुभाकाँक्षा रखने वाले और प्रत्येक कार्य में प्रोत्साहन देने वाले अपने परिवार के समस्त सदस्यों एवं इष्ट मित्रों के प्रति यथेष्ट अभिवादन सहित इस अवसर पर उन्हें स्मरण करना हमारा कर्त्तव्य है। उन सभी की प्रेरणा और मंगलकामना से ही इस ग्रंथ का सम्पादन-कार्य संभव हो सका है।

आराधना प्रकरण ग्रन्थ के प्रकाशन में अर्थ सौजन्य कर्त्ता श्री सुभाषचन्द्र जैन (पिसनहारी मढ़िया) जबलपुर एवं प्रकाशक संस्थान के पदाधिकारियों के प्रति हार्दिक आभार, जिन्होंने इसे प्रकाशित कर आप सभी के हाथों प्रस्तुत करने में सहयोग प्रदान किया।

इस ग्रंथ के कम्प्यूटराइज्ड और मुद्रण कार्य करने के लिए अरहन्त कम्प्यूटर्स, बापूनगर, जयपुर के व्यवस्थापकों श्री भागचन्द जैन, शिखर जैन के प्रति आभार, जिन्होंने सुन्दर शब्द-संयोजन और मुद्रण-कार्य करके इस कृति को समाज के अध्येताओं के बीच उपस्थित किया है। हम आशा करते हैं कि सुधीजनों के लिए यह ग्रंथ उपयोगी सिद्ध होगा।

जैन विश्वभारती संस्थान,
लाडनूं (राज.)
25 अप्रैल, 2002 (महावीर जयन्ती)

विनयावनत्
डॉ. जिनेन्द्र जैन
सत्यनारायण भारद्वाज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रमणिका

- प्रणति निवेदन
- प्रकाशकीय
- प्राक्कथन
- प्रस्तावना : आराधना प्रकरण – एक अध्ययन 01
  - प्रति-परिचय
  - आराधना प्रकरण – परिचय, प्रतिपाद्य विषय एवं वैशिष्ट्य
  - प्रकरण – एक दृष्टि
  - आराधना – एक अध्ययन
  - काव्यशास्त्रीय मीमांसा
- आराधना प्रकरण 31

  (मूल सम्पादित पाठ, अन्वय एवं हिन्दी अर्थ सहित)
- परिशिष्ट 50

  (क) विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली

  (ख) गाथानुक्रमणिका
- सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची 57

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

आराधना प्रकरण : एक अध्ययन

प्रति-परिचय

आधुनिक युग में जिस तरह हाथ से लेखनी के द्वारा कागज पर लिखा जाता है, उसी प्रकार मनुष्य की सभ्यता के प्रारम्भ में और विकासकाल में पत्रों पर, शिलाखण्डों पर, ईट अथवा ताड़पत्रों आदि पर लिखने की परम्परा प्रचलित थी। लेखनकला विकास के सोपानों को तय करती हुई मोमपाटी पर, चमड़े पर, कपड़ों पर, ताड़पत्र एवं भोजपत्र सहित अनेक धातुपत्रों पर भी टंकित होकर गतिशील होती रही। इतिहासकारों ने भी इन आलेखों पर किये गये अनुसंधान को अभिलेख, शिलालेख अथवा ताम्रपत्र आदि का नाम दिया। प्राचीनकाल में इस तरह लेखों के रूप स्मारक, आज्ञापत्र, दानपत्र या प्रशंसा में अभिलेखों के रूप में प्राप्त होते थे। मुद्राओं पर भी अभिलेख अंकित किए हुए प्राप्त होते हैं। इन अभिलेखों के बाद पुस्तकलेखन का क्रम प्रारम्भ होता है, जिसे पाण्डुलिपि कहा जाता है। अंग्रेजी में इन्हें मैन्युस्क्रिप्ट्स कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ 'हस्तलेख' है। यद्यपि हस्तलेख का अर्थ पाण्डुपिलि से भी विस्तृत है, क्योंकि उसमें शिलालेख या ताम्रलेख आदि भी समाविष्ट हो जाते हैं जबकि पाण्डुलिपि का सम्बन्ध ग्रन्थ से ही होता है। इसके विपरीत अंग्रेजी में किसी भी प्रकार के हस्तलेख मैन्युस्क्रिप्ट्स ही कहलाते हैं।

प्राकृत भाषा में लिखा हुआ आदि साहित्य शिलालेखों से प्रारम्भ होता है। इससे पूर्व के दस्तावेज आज उपलब्ध नहीं हैं। सम्राट अशोक द्वारा लिखाए गये शिलाभिलेख प्राकृत भाषा के आदि साहित्य के रूप में मान्य हैं। उसके पश्चात् आगम साहित्य, आगमेतर साहित्य, व्याख्या, कथा और विभिन्न विधाओं में लिखा गया साहित्य प्राकृत वाङ्मय को समृद्ध करता है।

सूत्रशैली में लिखे जाने के कारण आगम साहित्य जटिल था, इसलिए आचार्यों ने इसका व्याख्या साहित्य लिखना प्रारम्भ किया। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और तत्पश्चात् टीका ग्रंथ व्याख्या साहित्य के अंग हैं। टीकाओं का विभिन्न रूपों में प्रचलन देखा गया है। वृत्ति, दीपिका, अवचूरि, टब्बा, प्रकरण ये विविध रूप आगमिक व्याख्या साहित्य में प्राप्त होते हैं। प्रकरण के अन्तर्गत किसी घटना अथवा सिद्धांत विशेष को व्याख्यायित करने के लिए ग्रंथ-रचना का प्रणयन रचनाकार के द्वारा किया जाता है। प्रस्तुत आराधना प्रकरण भी आराधना को व्याख्यायित करने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए लिखा गया है। जिसका उद्देश्य है कि व्यक्ति आराधना करके निर्वाण प्राप्त कर सकता है। '**आराधना प्रकरण**' नामक इस छोटे से ग्रन्थ में रचनाकार ने अनेक सैद्धान्तिक बिन्दुओं को परिभाषित करने का प्रयास किया है।

जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) लाडनूं (नागौर, राज.) ग्रंथागार में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी भाषा की लगभग छः हजार पाण्डुलिपियाँ संग्रहीत हैं। आराधना प्रकरण नामक ग्रंथ की दो प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। जिनका चयन सम्पादन-कार्य के लिए किया गया।

अ - प्रति

श्री सोमसूरिकृत आराधना प्रकरण नामक इस कृति में कुल 70 गाथाएँ हैं। इस कृति की प्राप्ति जैन विश्वभारती लाडनूं के ग्रंथागार में 1566 क्र. पर संग्रहीत है। इस कृति के लिपिकार पं. श्री लाभविजय जी है। यह ग्रंथ कुल सत्रह पृष्ठों में सम्पन्न है। ज़िसमें कुल नौ पन्ने हैं। ग्रंथ का प्रारम्भ इस प्रकार होता है -

॥ अथ ॥

नमः श्री परमात्मने॥

नमिऊण भणइ एवं, भयवं समउचिअं समाइससु।

तत्तो वागरइ गुरू पज्जंताराहण एअं॥ (गाथा,1)

अर्थात् इस प्रकार (भगवान् महावीर को) प्रणाम कर कहते हैं कि शास्त्रसम्मत (करणीय कार्य का) आदेश दें। तब गुरु इस सम्पूर्ण आराधना (पर्यन्ताराधना) को कहते हैं। तथा अन्तिम गाथा में रचनाकार ने उल्लेख करते हुए कहा है कि यह सम्पूर्ण आराधना उन लोगों को निर्वाण का सुख प्रदान करने वाली है, जो आराधना का सम्यक् रूप से अनुसरण करते हैं -

सिरिसोमसूरिरइअं, पज्जंताराहणं पसमजणणं।

जे अणुसरंति सम्मं, लहंति ते सासयं सुक्खं॥ 70॥

अर्थात् - श्री सोमसूरि द्वारा रचित उत्कृष्ट रूप से कर्मों का शमन करने वाली पर्यन्त (सम्पूर्ण) आराधना का जो सम्यक् रूप से अनुसरण करते हैं, वे शाश्वत सुख अर्थात् निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

प्रस्तुत प्रति में लिपिकार के समय का उल्लेख नहीं है। प्रति के प्रत्येक पृष्ठ पर चार पंक्तियाँ टीका सहित (गुर्जर टीका) अंकित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब- प्रति

जैन विश्वभारती संस्थान के ग्रन्थागार में 1591 क्रमांक पर अंकित प्रकरण की दूसरी प्रति संग्रहीत है। इस प्रति में भी लिपिकार ने टीका समाहित की है। प्रत्येक पृष्ठ में पंक्तियों का क्रम एक जैसा प्राप्त नहीं है। कुछ पर पाँच पंक्तियाँ तथा कुछ पृष्ठों पर छः पंक्तियाँ समाहित की गई हैं। अ-प्रति की भाँति इस प्रति में भी ग्रंथ का प्रारम्भ और समापन इस प्रकार किया गया है-

॥ अथ ॥ अर्हं ॥

नमिऊण भणइ एवं भयवं समउचियं समाइससु।

तत्तो वागरइ गुरु, पज्जंताराहणा एअ ॥1 ॥

अर्थात् इस प्रकार (भगवान् महावीर को) प्रणाम कर कहते हैं कि शास्त्रसम्मत (करणीय कार्य का) आदेश दे। तब गुरु इस सम्पूर्ण आराधना को कहते हैं।

सिरिसोमसूरिरइअं, पज्जंताराहणं पसमजणणं।

जे अणुसरंति सम्मं, लहंति ते सासयं सुक्खं॥ 70॥

अर्थात् - श्री सोमसूरि द्वारा रचित उत्कृष्ट रूप से कर्मों का शमन करने वाली पर्यन्त (सम्पूर्ण) आराधना को, जो सम्यक् रूप से अनुसरण करते हैं, वे शाश्वत सुख अर्थात् निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

अन्तिम पृष्ठ पर लिपिकार ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि "आराधना प्रकरणावचूरी संवत् 1665 में कुमारगिरि ग्राम में महोपाध्याय मुनि विजयगणि के शिष्य पं. प्रेम विजयगणि के द्वारा शुक्ल पक्ष की दशमी रविवार को पूर्ण की गई। यह कृति लेखक और पाठक के लिए कल्याणकारी है।" प्रति में माह का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। इस प्रति में कुल ग्यारह पृष्ठ हैं। प्रति के द्वितीय पृष्ठ पर 10 वीं व 12वीं गाथा प्राप्त नहीं होती है। सम्भवतः यह लिपिकार द्वारा भूलवश छूट गई होगी। अंतिम 12 वें पृष्ठ पर अनशन विधि का उल्लेख नौ पंक्तियों में किया गया है। यह लिपिकार की दूसरी कृति कही जा सकती है।

उक्त दोनों प्रतियों में से सम्पादन हेतु अ-प्रति को आधार प्रति माना गया है। आवश्यकता पड़ने पर तथा उपयुक्तता के आधार पर ब-प्रति के पाठों को भी मूल में रखा गया है। यद्यपि ऐसा प्रयोग बहुत कम रूप में किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आराधना प्रकरण

परिचय, प्रतिपाद्य विषय एवं वैशिष्ट्य

परिचय -

आराधना प्रकरण नामक पाण्डुलिपि जैन विश्वभारती संस्थान के ग्रंथागार में संग्रहीत है। प्रकरण ग्रन्थों की परम्परा में यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है। यद्यपि यह कृति आराधना के विशिष्ट पक्ष को प्रस्तुत करने वाली होने से प्रकरण कही गई है। मूलतः इसका विषय स्तुतिपरक है। जैन विश्वभारती संस्थान के ग्रन्थागार में संग्रहीत इस पाण्डुलिपि में कुल सत्तर गाथाएँ हैं, जिसकी रचना श्री सोमसूरी द्वारा की गई है।

श्री सोमसूरि का समय निश्चित नहीं है फिर भी इस रचना में अपभ्रंश भाषा का प्रभाव एवं श्री हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित व्याकरण के नियमों को देखते हुए इनका समय लगभग 12वीं शताब्दी के बाद का माना जा सकता है। इनके द्वारा रचित आराधना प्रकरण का बालाभाई, काकलभाई (अहमदाबाद) द्वारा गुजराती अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रंथ की टीकाएँ, जिनमें से प्रथम टीका विनयविजयगणि द्वारा तथा दूसरी विनयसुन्दरगणि द्वारा संपादित हैं।

आराधना प्रकरण ग्रंथ में सोमसूरि ने दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप रूप आराधना को भाव परक प्रस्तुत करते हुए इस काव्य का सृजन किया है। यद्यपि प्रकरण ग्रंथ में आराधना के इन चार भेदों का उल्लेख नहीं हुआ, किन्तु भक्ति, समर्पण और आत्म-कल्याण के लिए शरणभूत चतुःशरण के प्रति समर्पित होने के लिए रचनाकार ने इस ग्रंथ की रचना की है।

प्रतिपाद्य विषय -

ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय को यदि संक्षेप में देखा जाये तो यह कहा जा सकता है कि अपने इष्ट की भक्ति और पूजा हेतु यह ग्रंथ लिखा गया है। श्री सोमसूरि ने आराधना प्रकरण में सर्वप्रथम भगवान् महावीर को प्रणाम करते हुए प्रतिज्ञा की है कि मैं शास्त्र सम्मत आराधना के सम्पूर्ण स्वरूप को कहता हूँ। अर्थात् पूर्वापर आचार्यों से जैसा उन्होंने आराधना का स्वरूप ग्रहण किया था वैसा ही व्याख्यायित करने की प्रतिज्ञा मंगलाचरण में की है। धर्माश्रित व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति के लिए अनेक साधनों एवं तपस्या आदि का पालन अपने जीवन में करता है। व्रत, उपवास,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषायों का शमन, पापों का त्याग, निःशल्य होकर अपने जीवन को संयमित रखना, ये सभी क्रियाएँ कर्म-शमन के लिए आवश्यक हैं। श्री सोमसूरि ने भी आराधना प्रकरण में इन्हीं सिद्धांतों का विवेचन किया है। अठारह प्रकार के पापों का त्याग करते हुए उन्होंने पंच नमस्कार मंत्र को शरणभूत माना है। अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पंच परमेष्ठी नमस्कार योग्य हैं। और ये ही शरणभूत हैं। रचनाकार ने दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य रूप पंचाचार के माध्यम से आचारशास्त्र का विवेचन संक्षेप में किया है, और पंचाचार को पालने में हुई विराधना के लिए क्षमा याचना भी की है। इस विराधना में षड्जीवनिकाय के प्रति हिंसा और महाव्रत या व्रत के पालने में हुई विराधना के प्रति निंदा व आलोचना की विस्तार से व्याख्या की गई है। इसी क्रम में 'अहिंसा परमो धर्मः' की भावना को व्याख्यायित करते हुए समस्त जीवों के प्रति क्षमा-भाव और याचना का चिन्तन रखने का आदेश किया गया है -

खामेसु सव्वसत्ते, खमेसु तेसिं तुमं विगय कोवो।
परिहरिअ पुव्ववेरो, सव्वे मित्तिं त्ति चिंतेसु॥ (गाथा, 27)

इस ग्रंथ में प्राणिमात्र के लिए चार शरणभूतों की चर्चा की गई हैं। वे चार शरणभूत हैं - अरिहंत, सिद्ध, साधु तथा केवलीप्रज्ञप्त धर्म। जिन्होंने अपने घाती कर्म नष्ट कर दिये हैं, तथा संसार के प्रति अनासक्त हैं। जो निर्वाण-सुख के मार्ग का उपदेश देने वाले हैं, ऐसे अरिहंत शरणभूत हैं। जिन्होंने संसार को त्याग दिया है, जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हैं, कर्म रहित होकर पंचमगति (मोक्ष गति) को प्राप्त कर लिया है, ऐसे सिद्ध शरणभूत हों। जो महाव्रतों के धारक हैं, काम वासना को वश में करने वाले, सुख और दुःख में सम रहने वाले तथा मणि व तृण को समान समझने वाले हैं। ऐसे मुनि शरणभूत हैं। समस्त जगत् का हित करने वाला, केवलियों के द्वारा प्रज्ञप्त, संसार रूपी अटवी को पार करने में समर्थ, ऐसा धर्म शरणभूत है। इन चारों शरणभूत की प्राप्ति में जो बाधक तत्त्व हैं, उनकी निन्दा और आलोचना इस ग्रंथ में की गई है। इस प्रकार ग्रंथ के अंत में जिनभवन, जिनप्रतिमा, शास्त्र, चतुर्विधसंघ आदि की अनुमोदना करते हुए शुद्ध ज्ञान, दर्शन, चारित्र का पालन करने का निर्देश दिया गया है। साथ ही चारित्र की शुद्धि के लिए छः आवश्यक क्रियाओं को पालने का भी निर्देश ग्रंथ में प्राप्त है। इस प्रकार आराधना प्रकरण ग्रंथ जहाँ एक ओर स्तुति परक प्रतीत होता है, वहीं दूसरी ओर सैद्धान्तिक विषयों का विवेचन करने वाला, आचार शास्त्रीय विवेचन करने वाला और दर्शन, ज्ञान चारित्र और तप रूप आराधना को भक्ति के धरातल पर विवेचित करने वाला है। निष्कर्षतः जब हम प्रस्तुत ग्रंथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(आराधना प्रकरण) के उपर्युक्त प्रतिपाद्य विषय का विवेचन करते हैं तो पाते हैं कि प्रस्तुत ग्रंथ में पंच परमेष्ठियों के स्वरूप का विवेचन करते हुए रचनाकार ने आत्म-कल्याण एवं मंगल की कामना व्यक्त की है। नमस्कार महामंत्र में पंचपरमेष्ठियों को मंगल माना गया है, जिसको यहाँ प्रतिपादित किया जा रहा है -

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं॥

जैन धर्म में इस नमस्कार महामंत्र की अत्यधिक महिमा है। इसे मंगलवाक्य के रूप में भी जाना जाता है। यहाँ जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इन मंगल वाक्यों की आवश्यकता क्यों हुई? इसके सम्बन्ध में आचार्य, मनीषी विद्वानों ने चिंतन किया है, जिसको निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि आत्म-संतुष्टि एवं आत्मकल्याण की भावना से प्रेरित होकर ही मानव अपने जीवन में मंगल को स्थान देता है।

विचारक महापुरुषों ने विषय-कषायजन्य अशान्ति और बैचेनी को दूर करने के लिए अनेक प्रकार के विधानों का सृजन किया है। नाना प्रकार के मंगलवाक्यों की प्रतिष्ठा की है तथा जीवन में शान्ति और सुख प्राप्त करने के लिए ज्ञान, भक्ति, कर्म और योग आदि मार्गों का निरूपण किया है। मन की परिपक्वता, आत्मस्वरूप पर श्रद्धान, विषय-कषायों से मुक्ति तथा विकारों पर विजय प्राप्त करने में मंगलवाक्य ही दृढ़ आलम्बन बनते हैं तथा उनसे आत्मकल्याण की भावना प्रबल होती है। णमोकार महामंत्र के माध्यम से पंच परमेष्ठियों की आराधना कर व्यक्ति लौकिक कल्याण की प्राप्ति, सुख तथा अन्त में निर्वाण-प्राप्ति कर सकता है। कोई भी साधक यदि चिदानंद शान्तमुद्रा के चित्त को अपने हृदय में स्थापित करे, तो मिथ्यादृष्टि का शमन होता है, दृष्टिकोण में परिवर्तन होता है, राग-द्वेष की भावनाओं का विसर्जन हो जाता है, आध्यात्मिक विकास होने लगता है तथा चारों तरफ मंगल और कल्याण की सृष्टि होती है।

प्रस्तुत आराधना प्रकरण में रचनाकर ने इन्हीं सारी बातों को ध्यान में रखकर पंच परमेष्ठी की आराधना की है, तथा ऐसे ग्रंथ की रचना कर सर्व के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। इस पंच परमेष्ठी की महत्ता (णमोकार महामंत्र की) इस गाथा में प्रतिपादित की गई है -

एसो पंचणमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैशिष्ट्य -

इस संसार में अनादि-काल से जीव कर्मबद्ध है। वह हर क्षण संसार से मुक्त होना चाहता है। मुक्ति के लिए सभी दर्शनों में अलग-अलग मार्गों का उल्लेख किया गया है। जैन दर्शन वीतराग अवस्था से ही मुक्ति प्राप्ति का उपदेश देता है। वीतरागी बनने के लिए साधना, त्याग, तपस्या आदि का पालन निर्दिष्ट है। आराधना प्रकरण का वैशिष्ट्य इस रूप में आँका जा सकता है कि यह जीव को सराग से विराग, संसारी से सिद्ध और सांसारिक दु:खों से शाश्वत सुख की ओर प्रवृत्त होने का मार्ग प्रशस्त करता है। आराधना प्रकरण में अंतिम गाथा में रचनाकार ने इसका वैशिष्ट्य प्रतिपादित करते हुए कहा है कि यह आराधना कर्मों का शमन करने वाली है, जो इसका अनुसरण सम्यक् रूप से करता है, वह शाश्वत सुख को प्राप्त करता है। वह शाश्वत सुख निर्वाण का सुख है, जिसे प्राप्त करना जीव का अनादिकाल से लक्ष्य है।

आराधना प्रकरण ग्रंथ में पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। ये पंच परमेष्ठी मंगल रूप हैं। सांसारिक प्राणियों का मंगल के प्रति समर्पण और उसको प्राप्त करना यह लक्ष्य रहता है। मंगलरूप इन उपमानों के गुणों को प्राप्त करने का प्रयास व्यक्ति जीवन पर्यन्त करता है। इस दृष्टि से आराधना प्रकरण नामक यह कृति आत्म-कल्याण के लिए इन गुणों को प्राप्त करने की प्रेरणा देती रहती है।

जैन आगमों को विषय की दृष्टि से चार भागों में विभाजित किया जाता है-

1. धर्मकथानुयोग 2. चरणानुयोग
3. द्रव्यानुयोग 4. गणितानुयोग

उपर्युक्त चार अनुयोगों में से आराधना प्रकरण का विषय चरणानुयोग से सम्बन्धित है। भव-बन्धन को काटने के लिए व्यक्ति को जिस धर्म आराधना का पालन करने का निर्देश ग्रंथ में किया गया है, वह साधना परक है। समिति, गुप्ति, महाव्रतों आदि के पालन द्वारा श्रमण धर्म के आचार का वर्णन बड़े सरस, सरल एवं सुन्दर ढंग से किया गया है। वह कवि की अपनी प्रतिभा का द्योतक है। न केवल आचार परक बल्कि सैद्धांतिक बिन्दुओं का भी विवेचन कवि ने इस कृति में किया है। जैन धर्म के आचार परक बिन्दुओं का अन्त:सम्बन्ध, दार्शनिक एवं सैद्धांतिक विषय से होने के कारण सम्यक्त्व, ज्ञान, योग, मिथ्यात्व और कषाय जैसे शब्दों को इस ग्रंथ में अच्छी तरह व्याख्यायित किया गया है।

संसार में रहने वाले प्राणी भौतिक सुखों की प्राप्ति में लगे रहते हैं। भौतिक सुख को प्राप्त करना जीव का लौकिक उद्देश्य कहा गया है, जबकि निर्वाण का सुख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह महान् अन्तिम उद्देश्य है। आराधना प्रकरण में इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पंच नमस्कार महामंत्र को समर्थ बताते हुए कहा गया है कि -

जेण सहाएण गयाणं, परभवे संभवंति भवियाणं।
मणवंछिअ सुक्खाइ, तं सुमरसु मणे नमुक्कारं॥ (गाथा, 64)

अर्थात् - जिसकी सहायता से परभव में भी गये हुए भव्य जीवों को मनवांछित सुखों की प्राप्ति होती है। उस नमस्कार महामंत्र का मन से स्मरण करो।

सुलहाउं रमणीउं, सुलहं रज्जं सुरत्तणं सुलहं।
इक्कुच्चि जो दुलहो, तं सुमरसु मणे नमुक्कारं॥ (गाथा, 65)

अर्थात् - (इस संसार में) सुन्दर स्त्री सुलभ है, राज्य भी सुलभ है और देवत्व भी सुलभ हो जाता है, (किंतु) एक मात्र जो दुर्लभ है उस नमस्कार महामंत्र का मन में स्मरण करो।

लद्धंमि जंमि जीवाण, जायए गोपयं व भवजलही।
सिव-सुह-सच्चंकारं, तं सुमरसु मणे नमुक्कारं॥ (गाथा, 66)

अर्थात् - जिस भव में जिसको (नमस्कार महामन्त्र) प्राप्त कर लेने पर जीवों के लिए यह संसार-सागर गोपद के (गाय के खुर) के बराबर हो जाता है वैसे शिव, सुख और सत्य स्वरूप नमस्कार महामंत्र को मन में स्मरण करें।

इस प्रकार आराधना प्रकरण का प्रतिपद्य विषय जहाँ लौकिक सुखों की संपूर्ति में जीव को समर्थ बनाता है, वहीं दूसरी ओर आराधना के द्वारा शाश्वत सुख को प्राप्त करने में सक्षम बना देता है। अतः व्यक्ति को जीवन पर्यन्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की आराधना करना चाहिए।

प्रकरण : एक दृष्टि

जैनाचार्यों ने भारतीय साहित्य को समृद्ध करने का भरपूर प्रयास किया है। साहित्य लेखन की दृष्टि से जैनागम सहित आगमेतर साहित्य भी अद्वितीय स्थान रखता है। आगम में वर्णित विषयों को व्याख्यायित करने के लिए व्याख्या ग्रंथ जैसे- निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाएँ लिखी जाती रही। यह परम्परा आगम काल से लेकर 10वीं - 11वीं शताब्दी तक निर्बाध रूप से प्रचलित रही। लगभग 11वीं शताब्दी के पश्चात् रचनाकारों में स्वतन्त्र रूप से ग्रंथ-लेखन की प्रवृत्ति दिखाई देने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगी। उन्होंने इसके साथ ही व्याख्या लिखने का क्रम इस रूप में चालू रखा कि समूचे ग्रंथ का प्रतिपाद्य व्याख्यायित न किया जाकर किसी एक विषय को प्रधानता देकर उसकी विवेचना की जाने लगी। इस युग में शास्त्र के सर्वाङ्गीण विवेचन की अपेक्षा किसी विशिष्ट अंग का विवेचन अधिक उपयोगी समझा जाने लगा। परिणामतः इस विशेष प्रकार के ग्रन्थों के लिखने के प्रचलन को प्रकरण ग्रंथ कहा गया।

कोशग्रंथों में 'प्रकरण' शब्द को परिभाषित किया गया है। काव्यशास्त्र की अपेक्षा से उसे रूपक का एक भेद माना गया है। साहित्य दर्पण में लोक नाट्य के भेदों को इस रूप में प्रदर्शित किया गया है –

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगांकवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥ (सा. द. 6/4)

भारतीय दर्शन कोश में 'प्रकरण' शब्द को परिभाषित करते हुए चिंतन किया गया कि जहाँ पर उपकारी तथा उपकारक की आकांक्षा हो उसे प्रकरण कहते हैं। इस कोश में प्रकरण शब्द की व्युत्पत्ति परक मीमांसा करते हुए लिखा है- प्र उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर प्रकरण शब्द बना है। जिसका सामान्य अर्थ होता है- प्रक्रिया अथवा विचार। अर्थात् जहाँ प्रतिपाद्य विषय के सन्दर्भ में विशेष चिंतन किया जाए, उसे प्रकरण की कोटि में रखा जाता है। प्रकरण एक विशेष प्रकार की विधा है, जिसमें समस्त प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन न कर केवल एक देश का प्रतिपादन किया जाता है। वह विवेचन सुगठित, सरल और संक्षिप्त होने के साथ-साथ विषय में नवीनता लिए हुए होता है। वेदान्तसार (सदानन्द) में प्रकरण के सन्दर्भ में कहाँ गया है कि –

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रंथभेदं विपश्चितः॥ (का. 52)

अर्थात् जिस ग्रंथ में किसी एक ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषयों में से एक ही विषय को प्रधानता से प्रतिपादित किया जाय तथा सम्बद्ध शास्त्र से अतिरिक्त शास्त्रीय विषय/विषयों का प्रयोजनानुसार समावेश किया जाए, उसे प्रकरण ग्रंथ कहते हैं।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में प्रकरण ग्रंथ लिखने की परम्परा प्राचीन रही है। न्याय, वैशेषिक, दार्शनिक परम्परा में भी प्रकरण ग्रंथ लिखे गये हैं। धर्मकीर्ति की न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, वाचस्पति आदि प्रकरण ग्रंथ कहे गये हैं। 12वीं शताब्दी का शशधरकृत न्यायसिद्धान्तदीप नामक प्रकरण ग्रंथ न्याय तथा वैशेषिक के कुछ चुने हुए पदार्थों का निरूपण करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

A Dictionary of Sanskrit Grammer[1] में प्रकरण के संदर्भ में किसी विशेष विषय के विवेचन को प्रकरण कहते हुए लिखा है कि - Literary works in which the treatment is given in the form of topics by arranging the original sūtras or rules differently so that all such rules as relate to a particular topic are found together, the Prakriyākaumudī, the Siddhāntakaumudī and others are called प्रकरण ग्रंथs. Such works are generally known by the name प्रक्रिया-ग्रंथ as opposed to वृत्तिग्रंथ।

आगमिक प्रकरणों का उद्भव -

यह पूर्व में ही कहा जा चुका है कि आगम सूत्रों को व्याख्यायित करने का गुरुतर कार्य आचार्य मनीषियों ने किया। यह परम्परा कुछ समय तक प्रचलित रही, किन्तु आचार्यों ने विषय प्रतिपादन में प्रकरण विधा को अपनाया। आगमों के आधार पर रचित प्रकरणों को आगमिक प्रकरण कहा जाता है। प्रकरण ग्रंथ के स्वरूप पर की गई पूर्व चर्चा के आधार पर कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों ने आगम ग्रंथों के सिद्धांत विशेष को व्याख्यायित करने के लिए प्रकरण ग्रंथों की रचना की होगी। यद्यपि व्याख्या ग्रंथों के द्वारा विषय का प्रतिपादन भली-भाँति हो जाता था, फिर इन प्रकरण ग्रंथों के लिखने की परम्परा की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई ? यह एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है। इसके समाधान में जैन साहित्य का बृहद् इतिहास[2] में जिन बिन्दुओं को दर्शाया गया है, वे इस प्रकार हैं -

1. आगमों का पठन-पाठन सामान्य कक्षा के लोगों के लिए दुर्गम ज्ञात होने पर उन आगमों के साररूप से भिन्न-भिन्न कृतियों की रचना का होना स्वाभाविक है। इस तरह रचित कृतियों को आगमिक प्रकरण कहते हैं।

2. बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि आगमों में कई विषय इधर-उधर बिखरे हुए होते हैं। ऐसे विषयों में से कुछ तो महत्त्व के होते हैं। अतः वैसे विषयों के सुसंकलित और सुव्यवस्थित निरूपण की आवश्यकता रहती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सुसम्बद्ध प्रकरण रचे जाने चाहिए और ऐसा हुआ भी है।

3. आगमों में आने वाले विषय सरलता से कण्ठस्थ किये जा सकें इसलिए उनकी (प्रकरणों की) रचना पद्य में होनी चाहिए, किन्तु आगमों में आने वाले वे

1. A Dictionary of Sanskrit Grammar, General editor, A. N. Jain, Oriental Institute, Baroda 1977, Pege 258.

2. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास - मेहता एवं कापडिया, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1968, पृ. 146

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी विषय पद्य में नहीं होते। आगमिक प्रकरणों की रचना के पीछे यह भी एक कारण है।

4. आगमों में आने वाले गहन विषयों में प्रवेश करने के लिए प्रवेशद्वार सरीखी कृतियों की (प्रकरणों की) योजना होनी चाहिए और इस दिशा में प्रयत्न भी किया है।

5. जैन आचार-विचार अर्थात् संस्कृति का सामान्य बोध सुगमता से हो सके, इस दृष्टि से भी आगमिक प्रकरणों का उद्भव हो सकता है और हुआ भी है।

इस तरह उपर्युक्त कारणों के आधार पर पूर्वाचार्यों ने आगमों के आधार पर जो सुश्लिष्ट एवं सांङ्गोपांग प्रकरण पाइय (प्राकृत) में और वह भी पद्य में लिखे वे आगमिक प्रकरण कहे जाते हैं।

आगमिक प्रकरण की परम्परा देखने से प्रतीत होता है कि ये ग्रंथ प्रारम्भ में प्राकृत पद्यबद्ध लिखे जाते रहे। कुछ समय पश्चात् इनका लेखन संस्कृत भाषा में गद्य-पद्य दोनों में किया जाने लगा। इसके पश्चात् यह परम्परा भी परिवर्तित होती दिखाई दी, क्योंकि लगभग 16वीं-17वीं शताब्दी के पश्चात् अनेक विधाओं का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। 'थोकड़ा', टब्बा, स्तवक आदि विधाएँ अपनाई जाने लगी थीं।

आगमिक प्रकरणों में अनेक प्रकरण प्राप्त होते हैं। यद्यपि इनके विषय जैनागमों से ही लिए गये होते हैं। इसलिये विषय की दृष्टि से प्रकरण ग्रन्थों का विभाजन दो रूपों में किया गया है -

1. तात्त्विक और गणितानुयोग सम्बन्धी विचारों के निरूपण हेतु।
2. आचार-दर्शन के निरूपण हेतु।

आराधना : एक अध्ययन -

जीवन के सहजस्रोत में समाविष्टि की साधना, श्रुत, बल, वीर्य की प्रकाम अभिव्यक्ति की कला का कमनीय अभिधान है- आराधना। आराधना इस सप्तमात्रिक शब्द में विनश्वर देह में अविनश्वर सात स्वरों के प्रवहण सामर्थ्य की उद्भूति स्थल सन्निहित है। 'आराधना' जीवन यात्रा का वह सोपान है, जिस पर आरूढ़ होकर साधना सफल हो जाती है। वह (आराधना) वैसी माधवी अरण्यानी समूह है, जिसके कर्म मार्ग से चलने वाला हर पथिक उस दिव्य संभूति को प्राप्त कर लेता है, जहाँ पर जाकर यह घटना सहजतया घटित होने लगती है। आराधना एक गीत है, जो हर क्षण दुःख में, द्वन्द में, कुरूपता में, बाधा में, विश्वास में, सन्देह में, सन्यास में,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यत्र-तत्र सर्वत्र मंगल, परममंगल, सिर्फ परम शिवत्व के अमर पद की स्वरलहरियाँ, रमणीय मूर्च्छनाओं एवं श्रुतियों के साथ अमरगुंजित है।आराधना एक महासागर गामिनी शान्तप्रवाहमान सलिला है, जिसमें एक बार भी जिस किसी ने डुबकी लगाई, वह अनन्त क्षीरसागर को प्राप्त कर ही लेता है। आराधना सच्चे जीवन की शुभ-कला है, जिसमें कलासाधक अपनी ही कला के बल पर वैसा सब कुछ प्राप्त कर लेता है, जो सहज प्राप्त नहीं होता। जीवन की विभूति-दायिका शक्ति है आराधना, जिसमें रूप से अरूप की, अशिव से शिवत्व की सफल यात्रा सम्पन्न होती है। आराधना रमणीयता के परम रूप का साक्षात्कार करने की विधि है, जहाँ **'यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति'** की और **'त्रैलोक्य सौभगमिदं'** विलसित होती रहती है। राम की रमणीयता, शिव का शिवत्व और कृष्ण की शक्ति की विभूति की त्रिवेणी का आह्लाद अभिधान है - आराधना। जहाँ केवल सरसता है, समरसता है और जीवन के परम मंगल का दिव्य स्रोत है, जिसको पाने वाला हर कोई प्राणी धन्य-धन्य हो जाता है, कीर्तिपुण्य हो जाता है। आराधना सम्पूर्ण द्वैध की विखण्डनाओं की, विडम्बनाओं की विलयभूमि है। वहाँ होता है केवल विश्वास, परम संतोष, परम आनन्द। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर अमरकोशकार[1] ने लिखा है - 'आराधनं साधने स्याद्वाप्तौ तोषणेऽपि च' अर्थात् यह साधना भी है, साध्य भी है और परमसन्तोष, परम विश्रान्ति भी है।

'आराधना' शब्द की निष्पत्ति 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'राध संसिद्धौ'[2] धातु से भाव में ल्युट् एवं स्त्रीलिंग में 'आ' प्रत्यय करने पर होती है, जो प्रसन्नता, संतोष, सेवा, पूजन, उपासना, अर्चना, सम्मान, भक्ति आदि का वाचक है। ''आराध्यतेऽनेन आराध्नोति या इति वा'' अर्थात् जिसमें प्रभु, गुरु, इष्ट, परमात्मा या किसी भी पूज्य की सेवा और भक्ति की जाती है, या जो स्वयं भक्ति अथवा सेवारूपा है।

भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही आराधना की धारा अविछिन्न रूप से प्रवाहित रही है। सनातन, जैन और बौद्ध तीनों ही धाराओं में अपने-अपने इष्ट के निमित्त सेवा, पूजा, उपासना, समर्पण आदि की परम्परा रही हैं। वेदों में अनेक देवी-देवताओं की आराधना की गई है। ऋग्वेद[3] का प्रारम्भ ही अग्नि देव की आराधना से होता है- ''अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारम् रत्नधातमम्'' (ऋग्वेद 1.1)। ''सनः पितेव सूनवेग्ने अग्ने सूपायनो भव। सचस्वानः स्वस्तये'' (ऋग्वेद 1.19)।

1. अमरकोश, (3, 125) अमरसिंहकृत, चौथा संस्करण, 1890, गवर्मेंट सेन्ट्रल बुक डिपो, मुम्बई
2. वाचस्पत्यम् (भाग-1) चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1969
3. ऋग्वेद संहिता (सायणाचार्यकृत) चौखम्बा प्रकाशन, 1997

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद आदि सभी वेदों में इष्टविषयक आराधना वर्णित है।

जैनागमों में भी आराधना के अनेक प्रसंग वर्णित हैं। भक्ति, सेवा, समर्पण,पूजा, गुणोत्कीर्तन जैसी क्रियाओं में आराधना को समाविष्ट किया जा सकता है। प्रत्येक आराधक अन्तर्मन से नि:स्वार्थ भाव पूर्वक जब इन क्रियाओं का सम्पादन करता है तब आराधना फलीभूत हो जाती है।

जैनाचार संयम प्रधान आचार है। उसमें प्रत्येक क्रिया को यत्न पूर्वक करने का विधान किया गया है। श्रमण और श्रावक इन दो रूपों में विभक्त आचार आराधना पूर्वक पालित किया जाता है। श्रमणाचार के अन्तर्गत महाव्रत, आवश्यक गुप्ति, रत्नत्रय आदि की आराधना आवश्यक कही गयी है जबकि श्रावकाचार में द्वादश व्रत, प्रतिमाओं का पालन, स्वाध्याय आदि की आराधना की जाती है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ये आराधना के चार भेद किये गये हैं। जीव इन चारों का अपने जीवन में पालन कर मोक्ष प्राप्ति की साधना करता है। पंचाचार के साथ-साथ इन आराधनाओं का पालन स्वत: हो जाता है। अर्द्धमागधी और शौरसेनी आगमों में चतुर्विध आराधना का उल्लेख मिलता है। धर्म आराधना, श्रुत आराधना, आचार आराधना, ज्ञान आराधना, संयम आराधना आदि आराधना के क्षेत्र कहे जाते हैं। दशवैकालिक[1], उत्तराध्ययन[2] प्रकीर्णक[3] साहित्य आदि अर्द्धमागधी आगमों में और मूलाचार[4], भगवती आराधना[5] कुन्दकुन्दकृत दर्शन पाहुड[6] आदि शौरसेनी साहित्य में चतुर्विध आराधना का उल्लेख मिलता है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप रूप आराधना का स्वरूप भगवती आराधना में सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है। वहाँ पर उद्योतन, उद्यवन, निस्तरण, साधन तथा निर्वहण रूप में चारों आराधना का पालन करना ही आराधना कहा है।[7] अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप का यथायोग्य विधि से

1. दशवैकालिक सूत्र - 10/7
2. उत्तराध्ययनसूत्र 28/2,3
3. (क) महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक-137
   (ख) भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक-7
   (ग) मरणसमाधि प्रकीर्णक - 317
4. मूलाचार (वट्टकेर) 1/57
5. भगवती आराधना (शिवार्य), गाथा-2
6. दर्शन पाहुड (कुन्दकुन्दकृत), गाथा-30, 32
7. भगवती आराधना, गाथा-2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशन करना, उनको परिणमित करना, उन्हें दृढ़ता पूर्वक धारण करना, उनके पालन में गति मन्द पड़ जाने पर पुनः-पुनः जाग्रत करना और आमरण सहित अनेक भवों में चारों का पालन करना ही आराधना है। हम आराधना के इस स्वरूप की मीमांसा करते हुए कह सकते हैं कि यदि यावत् जीवन धर्म साधना और यथाख्यात चारित्र का पालन आदि किया जाता है तो आराधना फलीभूत होती है। द्रव्यसंग्रह की टीका[1] में ध्यानस्थ आत्मा की चर्चा करते हुए कहा गया है कि इन चारों आराधनाओं का निवास स्थान आत्मा को माना गया है। अतः दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप की आराधना करना ही आत्मा में विचरण करना है।

आराधना के चार भेदों का संक्षेपीकरण भी आचार्यों ने किया है। रत्नकरण्डश्रावकाचार[2], अनगार धर्मामृत[3] तथा भगवतीसूत्र[4] में दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीन भेदों का उल्लेख मिलता है। शिवार्य[5] ने भगवती आराधना में चार भेद बताकर संक्षेप से दर्शन और चारित्र ये दो भेद कर दिये। इसी प्रकार चारित्र आराधना रूप एक भेद बताते हुए शेष तीनों को चारित्र में समाहित कर बतया कि दर्शन, ज्ञान और तप की आराधना चारित्र की आराधना से स्वतः पालित हो जाती है।[6] इस प्रकार इन आराधनाओं का पालन जहाँ आचारशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, वहीं मोक्ष प्राप्ति के लिए अनिवार्य भी है।

आराधना चाहे दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप की हो या संयम, धर्म, श्रुत, सुख आदि की, जीवन में वह अनिवार्य है। श्रुत आराधना का फल बताते हुए उत्तराध्ययन सूत्र[7] में कहा गया है कि श्रुत की आराधना से अज्ञान को क्षय और राग-द्वेष आदि से उत्पन्न होने वाले मानसिक संक्लेशों को दूर किया जा सकता है। धर्म आराधना प्रति समय और प्रत्येक क्षेत्र में पालित की जा सकती है। आचारांग सूत्र में आचार धर्म में आराधना का आधार विवेक बताते हुए कहा गया है कि यदि विवेक है तो गाँव अथवा जंगल में भी इसका पालन संभव है। धर्म आराधक के लिए शेष धर्मों को छोड़कर इस लोक में कहे हुए अनुसार धर्म को ग्रहण करने का निर्देश दिया गया है।

---

1. द्रव्यसंग्रह टीका (ब्रह्मदेवकृत) गाथा-56
2. रत्नकरण्ड श्रावकाचार (समन्तभद्र) 1/31
3. अनगार धर्मामृत (आशाधर) ज्ञानदीपिका टीका, श्लोक, 91
4. भगवतीसूत्र- 8/10/451
5. भगवती आराधना - 2, 3
6. भगवती आराधना (शिवार्य) गाथा, 8
7. उत्तराध्ययन सूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आराधना का सम्बन्ध व्यक्ति के अन्तकाल से भी जुड़ता है। यदि व्यक्ति ने यावत् जीवन द्रव्य और भाव रूप में आराधना का पालन किया है, किन्तु अन्तकाल में उसके परिणाम विकृत हो जाते हैं तो उसकी आराधना निष्फल हो जाती है। इसलिये न केवल शेष जीवन की बल्कि शेष जीवन सहित अन्तकाल तक की गई आराधना ही फलदायी हो सकती है। अत: आराधक को गुरु के सम्मुख दोषों का आलोचना पूर्ण प्रायश्चित करते हुये संयम का पालन करना चाहिए। मरणसमाधि प्रकीर्णक[1] में आराधक के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुये कहा गया है कि जो गुरु के पास सकल भावशल्य को छोड़कर शल्यों से रहित होकर मृत्यु को प्राप्त करता है वह आराधक होता है, किन्तु जो गुरु के पास भावशल्य को बिल्कुल नहीं छोड़ता, वह न तो समृद्धिशाली होता है, और न ही आराधक होता है। चारों कषायों का त्याग, इन्द्रियों का दमन एवं गौरव को नष्ट करके राग-द्वेष से रहित होकर आराधक अपनी आराधना की शुद्धि करता है। इसलिये आराधना को सम्पूर्ण जीवन काल में पालने का निर्देश किया गया है। भगवती आराधना में दृष्टांत पूर्वक यह समझाया गया है कि जिस प्रकार राजपुत्र प्रारम्भकाल से ही शस्त्र विद्या का अभ्यास करते रहने के कारण युद्धभूमि में शत्रु को परास्त करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार आराधक भी शेष जीवन काल में आराधना का अभ्यास कर मृत्यु के समय सम्यक् रूप से आराधना का पालन करता है। भगवती आराधना में इसका निरूपण निम्न गाथाओं में किया गया है -

जह रायकुलपसूओ जोग्गं णिच्चमवि कुणइ परियम्मं।
तो जिदकरणो जुद्धे कम्मसमत्थो भविस्सदि हि॥ (भ. आ. 20 पृ. 41)
इयसामण्णं साधू वि कुणदि णिच्चमवि जोगपरियम्मं।
तो जिदकरणो मरणे झाणसमत्थो भविस्सहदि॥ (भ. अ. 21 पृ. 42)

चतुर्विध आराधनाओं के प्रसंग में यह कहा जाता है कि संक्षेप में दर्शन और चारित्र की आराधनाएँ ही जीवन में उपयोगी है। इसका तात्पर्य यह है कि दर्शन की आराधना से ज्ञान की आराधना पालित होती ही है, जबकि ज्ञान की आराधना से दर्शन की आराधना पालित होती भी है और नही भी। क्योंकि पदार्थ को जानकर ही उस पर श्रद्धान् करना आधारित होता है। जबकि श्रद्धान् होने का मतलब है ज्ञान पूर्व में ही प्राप्त किया जा चुका है। दूसरी चारित्र की आराधना से तप की आराधना आराधित हो ही जाती है। जबकि तप की आराधना से चारित्र पालित हो यह जरूरी नहीं। यहाँ चारित्र शब्द संयमपूर्ण चरित्र का द्योतक है। इस प्रकार इन दो आराधनाओं

1. मरण समाधि प्रकीर्णक- गाथा 225-26

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की पालना करना जीवन की सार्थकता के लिये अनिवार्य है। चारों आराधनाओं को यदि और संक्षेप में कहना चाहें तो चारित्र की आराधना ही प्रमुख है। अर्थात् चारित्र की आराधना से दर्शन, ज्ञान और तप स्वाभाविक रूप से पालित हो जाते हैं। जबकि दर्शन, ज्ञान अथवा तप की आराधना से चारित्र पालित होना भजनीय कहा गया है। क्योंकि दर्शन, ज्ञान और तप होने के बावजूद चारित्र हो यह जरूरी नहीं है। ऐसा इसलिए कहा गया है, क्योंकि असंयमपूर्ण चारित्र का पालन करने वाले व्यक्ति में भी दर्शन, ज्ञान अथवा तप की प्राप्ति देखी जा सकती है। लेकिन चारित्र की प्राप्ति (संयमपूर्ण चारित्र या यथाख्यात चारित्र) होने पर शेष तीनों ज्ञान, दर्शन, तप पालित हो जाते हैं। सुख आदि की प्राप्ति के लिए जीवन में यह अनिवार्य है। श्रुत आराधना का फल बताते हुए कहा गया है कि चारित्राराधना से दर्शन, ज्ञान और तप की आराधना स्वतः ही पालित हो जाती है।

आराधना के फल के सन्दर्भ में जिनशासन में लेश्याओं का विशेष महत्त्व है। मानव मन में उठने वाले विचारों को ही लेश्या कहा गया है। जिसका सम्बन्ध भावनाओं के साथ स्वीकार किया जाता है। लेश्याएँ प्रशस्त और अप्रशस्त इन दो रूपों में विभक्त की गई हैं। प्रशस्त लेश्याएँ वे हैं, जो मनुष्य के निर्वाण प्राप्ति में सहायक बनती हैं। जबकि अप्रशस्त लेश्याएँ संसार बढ़ाने में समर्थ होती हैं। निर्वाण की प्राप्ति के लिए विशुद्ध शुक्ल लेश्या ही निमित्त है। अप्रशस्त लेश्याएँ कृष्ण, नील और कापोत हैं। जबकि प्रशस्त लेश्याएँ तेजस्, पद्म और शुक्ल हैं। विशुद्ध लेश्याओं को उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य रूप में पाला जाता है। जिनका फल पृथक्-पृथक् निर्धारित किया गया है। यदि शुक्ल लेश्या उत्कृष्ट रूप में पाली जाये तो जीव उसी भव से मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। जबकि मध्यम स्तर से शुक्ल लेश्या का धारक सात भव पर्यन्त मुक्ति को प्राप्त करता है, और जघन्य रूप में आराधना करने वाला आराधक संख्यात्-असंख्यात् भव को प्राप्त करता है। ये तीनों स्तर सम्यक्त्व आराधक को ध्यान में रखकर किये गये हैं अर्थात् सम्यक्त्व की आराधना को पालने वाला वह है, यदि उसकी लेश्याएँ उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य रूप में पालित हैं, तभी वह उक्त भवों के पर्यन्त मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

जिनशासन में आराधना के अनेक रूप मिलते हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप का पालन कर व्यक्ति भक्तिपूर्वक पूजन, अर्चन अथवा गुणोत्कीर्तन आदि के द्वारा आराधना करता है। आराधना प्रकरण में विशेष रूप से सम्यक्त्व की आराधना को प्रदर्शित किया गया है। प्राचीन जैनागम में आराधना यत्र-तत्र परिभाषित हुई है। चतुर्विध आराधना को आचार अथवा दार्शनिक सिद्धांतों के माध्यम से विवेचित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया गया है। साधक चाहे ध्यान में लीन हो, व्रत आदि की साधना में लगा हुआ हो, आभ्यन्तर एवं बाह्य तपों का पालन कर रहा हो अथवा कषायों के शमन, योग की प्रवृत्ति आदि विभिन्न क्रियाओं में आराधना का विवेचन किया गया है। आराधना विषयक साहित्य में भगवती आराधना, मूलाचार, प्रकीर्णक साहित्य (आतुर प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, मरण समाधि) समवायांग आदि प्रमुख ग्रंथ हैं। भगवती आराधना पर लिखा गया टीकासाहित्य भी इस परंपरा के प्रमुख ग्रंथ हैं। अमितगतिकृत संस्कृत पद्यबद्ध आराधना ग्रंथ, देवसेनकृत आराधनासार, पं. आशाधरकृत आराधना, अपराजितसूरिकृत विजयोदया टीका तथा अज्ञातकृत प्राकृत आराधना विषयक ग्रंथ, वि.सं. 1078 में वीरभद्र द्वारा आराधना पताका एवं अभयदेवसूरिकृत आराधना कुलक प्रमुख ग्रंथ कहे गये हैं। आराधना के विषय को विवेचित करने वाले इन ग्रंथों के अतिरिक्त पश्चात्वर्ती आचार्यों ने स्वतन्त्र रूप से ग्रंथों का प्रणयन किया है। जिनमें आराधना प्रकरण प्रमुख है। सोमसूरि द्वारा रचित यह आराधना प्रकरण ग्रंथ सम्यक्त्व की आराधना को विशेष रूप से व्याख्यायित करता है।

काव्यशास्त्रीय मीमांसा

रस

रस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है। जैसे - सारभूत द्रव्य, वनस्पतियों के रस आदि अर्थों में रस का प्रयोग हुआ है।

रस शब्द 'रस्यतेआस्वाद्यते'[1] इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है आस्वाद्यमान या जिसका आस्वादन किया जा सके। काव्यशास्त्र में रस शब्द का प्रयोग श्रृंगारादि रसों के अर्थ को व्यक्त करता है। अभिप्राय यह है कि जिसके द्वारा भावों का आस्वादन हो, वह रस है। पं. विश्वनाथ ने अपनी कृति **साहित्य दर्पण** में रस की अत्यन्त सरल परिभाषा देकर बताया है कि भावों की परिपक्वावस्था को रस कहते हैं। इनके विचार से जब विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के द्वारा सहृदयों के हृदय में वासना-रूप में स्थित स्थायी भाव पूर्ण परिपक्वावस्था को प्राप्त हो जाये, तो उसको रस कहते हैं। कहा गया है -

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्वादिः स्थायी भावः सचेतसाम्॥ (साहित्यदर्पण, 3/1)

---

1. वाचस्पत्यम् (बृहत् संस्कृताभिधानम्) श्री तारानाथतर्क वाचस्पति, भट्टाचार्य (पृ. 4794) प्रकाशक-चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी। 1970

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य विश्वनाथ ने रस की अनेक विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उसे इस कारिका में प्रस्तुत किया है –

सत्त्वोद्रेकादखंडस्वप्रकाशानंदचिन्मयः।
वेद्यांतरस्पर्शशून्यब्रह्मानन्दसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणःकैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारावदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥ (सा.द. 3/2)

भारतीय आचार्यों ने रस को अलौकिक कहा है अर्थात् रसानंद ही ब्रह्मानंद है। रस मन की आनंदमयी चेतना है तथा इसके द्वारा ही आनंदानुभूति होती है।

भरत और भरत से पूर्व की परम्परा में केवल आठ रसों का ही वर्णन किया गया है। कालिदास ने भी आठ रसों का वर्णन किया है। शान्त रस को भरत ने अभिनेय मानकर उसका निरूपण नहीं किया। सर्वप्रथम उद्भट ने नौ रसों (शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शांत) का वर्णन किया है, जो निम्न कारिका में उद्धृत है–

शृंगारहास्यकरुणरौद्र वीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतशांताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः॥

(काव्यालंकारसारसंग्रह, 4/4)

सम्पूर्ण आराधना प्रकरण में शान्त रस का ही प्रयोग हुआ है। शांत रस शम (निर्वेद) स्थायी भाव युक्त एवं मोक्ष प्रवर्तक होता है। उसकी उत्पत्ति तत्त्वज्ञान, वैराग्य एवं चित्तशुद्धि आदि विभावों के द्वारा होती है। उसका अभिनय, यम, नियम, अध्यात्म, ध्यान, धारणा, उपासना, सभी प्राणियों के प्रति दया आदि अनुभावों के द्वारा होता है। निर्वेद, स्मृति धृति, सर्वश्रम, शौच, स्तंभ, रोमांच आदि उसके व्यभिचारी भाव हैं। यह रस मोक्ष तथा आध्यात्मिक ज्ञान में प्रवृत्त करने वाला तथा तत्त्वज्ञान के कारणों से युक्त होता है।

शान्त रस के उपर्युक्त विवेचन का अध्ययन करं आराधना प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय पर दृष्टिपात करते हैं तो इस रस का स्वरूप व फल स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हो जाता है। सम्पूर्ण ग्रंथ धर्माराधना विषयक होने से शांत रस युक्त है। इसी आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इस ग्रंथ में शान्तरस का प्रयोग हुआ है। इसके उदाहरण में लगभग सम्पूर्ण आराधना ग्रंथ को लिया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छन्द

मनुष्य अनादिकाल से छन्द का आश्रय लेकर अपने ज्ञान को स्थायी और अन्यजन ग्राही बनाने का प्रयत्न करता आ रहा है। मनुष्य को मनुष्य के प्रति संवेदनशील बनाने का सबसे प्रधान साधन छन्द है।

छन्द लय, स्वर और मात्राओं से युक्त शाब्दिक अभिव्यक्ति है, जो मनोरम, हृदयाकर्षक तथा प्रभावक होती है। सुश्राव्य तथा सुगठित पदों और मात्राओं का उचित सन्निवेश एवं जिसमें गेयात्मकता की सहज उपस्थिति हो उसे छन्द कहते हैं। सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद, राग-द्वेष, संयोग-वियोग, करुणा-घृणा आदि रागात्मक प्रवृत्तियाँ अनुभव में आकर समाप्त हो जाती हैं, लेकिन इनका संस्कार अवचेतन मन पर स्थिर रहता है। किसी बाह्य या आभ्यन्तर कारण वशात् जब अनुभूतियाँ अवचेतन मन को उद्वेलित कर व्यवहार मन पर अधिकार जमाती हुई बाह्य शब्दाभिव्यंजना को प्राप्त होती हैं, उसे छन्द कहते हैं। जिस प्रकार भवन बनाने से पूर्व उसका रेखाचित्र बना लिया जाता है उसी प्रकार कविता में सन्तुलन व प्रेषणीयता लाने के लिए छन्द की आवश्यकता है।

काव्य के क्षेत्र में छन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाणिनि ने छन्द को वेद का पाद कहा है। वाचस्पत्यम् (पृ. 2979) में अंकित है -

"छन्दः पादौ तु वेदस्य।"[1]

छन्दात्मक साहित्य सामान्य साहित्य से विशिष्ट होता है, क्योंकि छन्द से सहजतया चेतना जागृत होती है, चिन्मयत्व का विस्तार होता है,परम सुख की उपलब्धि होती है और सद्य (दु:ख) मुक्ति की घटना घटित होती है। संसार या संसारेतर ऐसी कौन सी वस्तु है, जो साहित्य से प्राप्त नहीं हो सके ? आ. मम्मट ने इसकी महत्ता का निर्देश किया है-

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिवृतये कातासम्मिततयोपदेश युजे॥ (काव्यप्रकाश 1/2)

अर्थात् - काव्य से यश की प्राप्ति, धनलाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोगादि विपत्तियों का विनाश, आनन्द की प्राप्ति तथा प्रियतमा के समान मनभावन उपदेश की प्राप्ति होती है।

यहाँ यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि साहित्य में छन्द के समावेश से

1. **शिक्षाग्रन्थ** (वेदांग) 31/7

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहित्य की मनोरंजकता, आह्लादकता एवं भावाभिव्यक्तिसामर्थ्य की संवृद्धि होती है। कहा भी है- **चन्दति आह्लादं करोति दीव्यते वा श्राव्यतया इति छन्द।**

हलायुधकोश (पृ. 307) पर कहा गया है -

चन्दयति आह्लादयति, चन्द्यतेऽनेन वा॥

अर्थात् 'चदि-आह्लादने' धातु से "चन्देरादेश्य छः" इस औणादिक सूत्र से असुन् प्रत्यय और चकार के स्थान पर छकार करने पर छन्द शब्द की निष्पत्ति होती है। जो आह्लाद करे, अर्थात् श्रव्य के माध्यम से चित्त को विकसित करे वह छन्द है।

प्रस्तुत ग्रन्थ आराधना प्रकरण स्तुति परक काव्य है। जिसमें अपने इष्ट के प्रति, इष्ट के विभिन्न सामर्थ्यों के नाम रूपों का संगायन स्तोत्र या स्तुति पद वाच्य है। प्रभु, ईश्वर, गुरु या पूज्य में विद्यमान गुणों का गायन स्तोत्र है, और स्तोत्र अधिकांश छंदोमय ही देखे जाते हैं। प्रस्तुत प्रकरण ग्रन्थ में मुख्य रूप से गाथा छन्द का प्रयोग किया गया है।

गाथा छन्द

इसे संस्कृत में आर्या छन्द कहते हैं। मात्रिक छन्दों में आर्या सर्वाधिक प्राचीन है। आर्या छन्द का लक्षण इस प्रकार कहा गया है -

यस्याः पादे प्रथमं द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादशः द्वितीये चतुर्थके पंचदश सार्या॥

अर्थात् जिसमें प्रथम एवं तृतीय चरण में बारह मात्राएँ, दूसरे चरण में अठारह तथा चौथे चरण में पन्द्रह मात्राएँ होती है। इसी के समान पिंगलकृत प्राकृत-पैंगल में गाथा का लक्षण किया है -

पढमं बारह मत्ता बीए अटठ्ारहेहिं संजुत्ता।
जह पढमं तह तीयं दहपंच विहूसिया गाहा॥ (प्रा. पै. 54, पृ. 52)

सम्पूर्ण आराधना प्रकरण गाथा छन्द में लिखा गया है। यद्यपि कहीं-कहीं पद (चरण) स्खलन दिखाई देता है, तो कहीं मात्राओं की त्रुटि स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि रचनाकार अपने इष्ट की आराधना करने में इतने तल्लीन हो गये कि छन्द के स्खलन का ध्यान ही नहीं रहा होगा।

अलंकार

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों का विशेष महत्त्व है। आचार्य दण्डि, आनन्द, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य में अलंकारों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के प्रयोग को अनिवार्य माना है। जिसका अर्थ शोभादायक तत्त्वों से किया जाता है।

अलंकार शब्द 'अलम्' और 'कार' इन दो शब्दों के योग से बना है, जिसका अर्थ - शोभाकारक पदार्थ है। 'अलं करोति इति अलंकार' अर्थात् जो अलंकृत या विभूषित करे, वह अलंकार है। जिस प्रकार लोक में कटक-कुण्डलादि विविध अलंकारों से कामिनी सुशोभित होती है। उसी प्रकार उपमादि अलंकारों के द्वारा कविता रूपी कामिनी का सौन्दर्य संवर्द्धित होता है।

काव्य के शरीरभूत तत्त्व शब्द और अर्थ हैं तथा अलंकारों के योग से इनकी (शब्द और कार्य की) शोभा में वृद्धि होती है। आचार्य वामन ने अलंकृत करने वाले तत्त्वों में उपमादि को माना है-

अलंकृतिः अलंकारः, करणव्युपत्या पुनः।
अलंकार शब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते॥

(काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/1/2)

अलंकार की महिमा प्रतिपादित करते हुए राजशेखर ने इसे वेद का सातवाँ अंग माना है। इसको काव्यरूपी शरीर की आत्मा तथा गुण, अलंकार और रीति को उसके बाह्यशोभाकारक धर्म के रूप में स्वीकारोक्ति दी गई है। रस और गुण काव्य के स्थिर धर्म के रूप में स्वीकार किये जाते हैं, जबकि अलंकार को अस्थिर धर्म कहकर उसकी स्थिति की अपरिहार्यता पर प्रश्नचिह्न लगा दिया गया है। इस उक्ति को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि काव्य में अलंकार हो यह जरूरी नहीं। अलंकार की सर्वमान्य परिभाषा आचार्य दण्डी ने दी है, जिसके अनुसार काव्य के शोभदायक तत्त्व को अलंकार कहते हैं।

काव्य-शोभा-करान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। (काव्यादर्श, 2/1)

आचार्य मम्मट एवं विश्वनाथ अलंकार का सम्बन्ध रस के साथ स्थापित करते हुए कहते हैं कि अलंकार शब्दार्थ का शोभावर्धन करते हुए मुख्यतः रस के उपकारक सिद्ध होते हैं। यह शब्दार्थ का अस्थिर या अनित्य धर्म है और इनका स्थान कटक, कुण्डल प्रभृति आभूषणों की भाँति अंगों को विभूषित करता है -

हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥

(साहित्य दर्पण, 10/1)

पण्डितराज जगन्नाथ ने अलंकार को काव्य की आत्मा, व्यंग्य का रमणीयताप्रयोजन धर्म मानते हुए आनन्दवर्धन प्रभृति आचार्यों के मत की ही पुष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की है -

काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकाराः। (रसगंगाधर)

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष दृष्टिगत होता है कि अलंकार काव्य में विद्यमान रहता है और कभी नहीं भी। यह तो केवल शोभावृद्धि करता है, सौंदर्य की सृष्टि नहीं। अभिप्राय यह है कि सत्काव्य में अलंकार की स्वतंत्र सत्ता अमान्य है।

आराधना प्रकरण में कृतिकार के द्वारा अनायास ही अलंकारों का प्रयोग हो गया है। सहज रूप में प्रयुक्त इन अलंकारों से ऐसा प्रतीत होता है मानों कवि ने जानबूझकर अलंकारों का प्रयोग नहीं किया होगा, अपितु ग्रंथ के काव्यशास्त्रीय शैली में निरूपण से अलंकारों का सहज ही प्रयोग हो गया। इस प्रकरण ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय आराधना परक एवं आचार सम्मत होने से भी अलंकार के सहज प्रयोग की बात सिद्ध होती है। कवि श्री सोमसूरि विरचित इस ग्रंथ में काव्यलिंग, लाटानुप्रास, पर्याय, परिकर, रूपक, उपमा, विशेषोक्ति, विभावना आदि अनेक अलंकारों का बड़ा ही सहज एवं सुन्दर प्रयोग हुआ है। यहाँ उनके लक्षण, उदाहरण सहित दिये जा रहे हैं -

काव्यलिंग -

जब वाक्यार्थ या पदार्थ में किसी कथन का कारण हो तो काव्यलिंग अलंकार होता है। काव्यलिंग में दो शब्द हैं- काव्य और लिंग। जिनका अर्थ है- काव्य का कारण अर्थात् ऐसा कारण जिसका वर्णन काव्य में किया गया।

आ. अम्मट ने काव्यलिंग का लक्षण देते हुए कहा -

काव्यलिंगं हेतोर्वाक्यपदार्थता॥ (काव्यप्रकाश, 10/114)

पं. विश्वनाथ ने भी काव्यलिंग को इन शब्दों में परिभाषित किया है -

हेतोर्वाक्यपदार्थत्त्वे काव्यलिंगं निगद्यते॥ (सा.द. 10/81)

आराधना प्रकरण ग्रंथ की प्रथम गाथा ही काव्यलिंग अलंकार का सुन्दर एवं सटीक उदाहरण है।

नमिऊण भणइ, भयवं समउचिअं समाइससु।
तत्तो वागरइ गुरू , पज्जंताराहणा एअं॥ (गाथा-1)

प्रस्तुत गाथा में जब शिष्य गुरु से शास्त्रसम्मत उपदेश देने की प्रार्थना करता है तो गुरु अपने शिष्य को इस सम्पूर्ण आराधना परक ग्रंथ में शास्त्रसम्मत उपदेश देते हैं। यहाँ काव्य रचना का कारण शिष्य की प्रार्थना है। इस गाथा के अतिरिक्त और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी कई गाथाओं में इस अलंकार का प्रयोग हुआ है।

पर्याय अलंकार -

जब एक वस्तु की क्रमशः एक स्थान में स्वतः अवस्थिति हो तो वहाँ पर्याय अलंकार होता है। पर्याय का अर्थ कम या अनुक्रम है। पर्याय अलंकार के उद्भावक आचार्य रुद्रट् हैं। कालान्तर में इसका निरूपण परवर्ती रचनाकारों ने भी किया है। पं. विश्वनाथ ने अपनी कृति साहित्य दर्पण में पर्याय अलंकार का लक्षण इस प्रकार किया है -

क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेक चैकग क्रमात्।
भवति कियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते॥ (सा.द., 10/104)

इसका सटीक उदाहरण प्रकरण ग्रंथ की बयालीसवीं गाथा है, जो यहाँ निर्दिष्ट है-

जे चत्तसयलसंगा, समतिणमणि सत्तुमित्तणो धीरा।
साहंति मुक्ख मग्गं, ते मुणिणो हुन्तु मे सरणं॥ (गाथा, 42)

प्रस्तुत गाथा में आधेय कल्याणकारक मुनि है, जिसके आधार अनेक हैं जैसे- यह परिग्रह का त्यागी है, तृण व मणि, शत्रु तथा मित्र और सुख तथा दुःख में सम रहता है। अतः यहाँ पर्याय अलंकार है।

परिकर अलंकार -

जब साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग से वर्णनीय पदार्थ के परिपोषण किए जाने का वर्णन हो तो परिकर अलंकार होता है। परिकर का अभिप्राय है- उपकरण, उत्कर्षक, या शोभा कारक पदार्थ। इस अलंकार के उद्भावक रुद्रट् हैं। द्रव्य, गुण, क्रिया तथा जाति के आधार पर इस अलंकार के चार प्रकारों का वर्णन इस श्लोक के माध्यम से करते हैं -

साभिप्रायैः सम्यग्विशेषणैर्वस्तु यद्विशिष्येत।
द्रव्यादिभेदभिन्न चतुर्विधः परिकरः स इति॥ (काव्यालंकार, 7/72)

इस अलंकार की अनिन्द्य छटा आराधना प्रकरण की इस गाथा से देख सकते हैं, जिसमें धर्म को अनेक विशेषणों से युक्त बताया गया है। इसी कारण परिकर अलंकार है -

कल्लाण कोडिजणणा, जत्थ अणत्थप्पबंध निद्दलणी।
वण्णिज्जइ जीवदया, सो धम्मो होतु मम सरणं॥ (गाथा, 44)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्- यही धर्म मेरे लिए और सबके लिए शरणभूत है, जो अनर्थ के प्रबन्ध को दूर करता हो, जनकल्याणकारी हो और जीव दया का वर्णन करने वाला हो। ये सभी विशेषण धर्म के कहे गये हैं।

रूपक अलंकार-

जब उपमेय पर उपमान का निषेधरहित आरोप होता है तो वहाँ रूपक अलंकार होता है। इस अलंकार में उपमेय और उपमान में अभेदता स्थापित की जाती है। **तद्रूपकं उपमानोपमेयस्य** अर्थात् जहाँ उपमेय और उपमान से एक रूपता हो वहाँ रूपक अलंकार होता है। इसका उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है -

सग्गापवग्गपुरमग्ग - लग्गलोआण-सत्थवाहो जो।
भवअडवी लंघण खमो, सो धम्मो होतु मम सरणं॥ (गाथा, 46)

इस गाथा में स्वर्ग एवं अपवर्ग रूप नगर तथा भवअटवी अर्थात् संसार रूप अटवी में रूपक अलंकार है।

विशेषोक्ति अलंकार -

विरोध मूलक अलंकार। पर्याप्त कारण के होते हुए भी कर्याभाव का वर्णन विशेषोक्ति अलंकार है। विशेषोक्ति का अर्थ है- विशेष प्रकार की उक्ति अर्थात् परिपूर्ण कारण के होते हुए भी कार्य का अभाव, असाधारण उक्ति है। इसीलिए इसे विशेषोक्ति अलंकार कहते हैं। उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि काव्यप्रकाश के कर्त्ता आ. मम्मट के इस कथन से हो सकती है कि -

विशेषोक्तिरखंडेषु कारणेषु फलावचः॥ (काव्यप्रकाश, 10/108)

साहित्य दर्पण में पं. विश्वनाथ ने भी कुछ इसी प्रकार ही विशेषोक्ति अलंकार को प्रतिपादित किया है -

सतिहेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथाद्विधा॥ (काव्यप्रकाश, 10/88)

आराधना प्रकरण ग्रंथ में इस अलंकार का प्रयोग प्रस्तुत गाथा में हुआ है-

जं भुंजिऊण बहुहा, सुरसेलसमूह पव्वएहिंतो।
तित्ति तए न पत्ता, तं चयसु चउव्विहाहारं॥ (गाथा, 59)

अर्थात् जो मेरु पर्वत समूह में पर्वतों के सदृश विविध प्रकार के भोगों को तुम्हारे द्वारा भोगकर भी तृप्ति प्राप्त नहीं की जा सकी, उन चार प्रकार के आहार का त्याग करो।

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि मेरु पर्वत समूह में पर्वतों के सदृश विविध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार के आहार से भी तृप्ति प्राप्त नहीं हुई अर्थात् कारण (आहार) है, लेकिन कार्य (तृप्ति) का अभाव है। अतः यहाँ विशेषोक्ति अलंकार है।

विभावना अलंकार -

विरोधमूलक अलंकार। कारण के अभाव मे कार्योत्पत्ति का चमत्काप्रपूर्ण वर्णन विभावना अलंकार है। साहित्य दर्पण में विभावना का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कृतिकार कहते हैं -

विभावना बिना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते॥ (साहित्य दर्पण, 10/87)

अर्थात् जहाँ बिना कारण के ही कार्य की उत्पत्ति हो जाए वहाँ विभावना अलंकार होता है। आराधना प्रकरण में प्रस्तुत गाथा में इसका प्रयोग देखने को मिलता है -

जेण विणा चारित्तं, सुअं तवं दाणसीलं अवि सव्वं।
कासकुसुमं व विहलं, इअ मुणिअं कुणसु सुहभावं॥ (गाथा, 58)

यहाँ चारित्र रूप कारण के अभाव में श्रुत, तप, दान, शील आदि कार्य की विफलता रूप कार्योत्पत्ति दिखाई गई है।

उपमा अलंकार -

उपमा का अर्थ होता है, निकट रखकर तौलना। अर्थात् उपमेय और उपमान के किसी गुण के एकरूपता के कारण समानता प्रतिपादित करना। उपर्युक्त गाथा ही इसका उदाहरण है-

''कासकुसुमं व विहलं।'' (गाथा 58)

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कवि ने तो जानबूझकर अलंकारों का प्रयोग नहीं किया लेकिन प्रस्तुत कृति आराधना प्रकरण में अलंकारों के सहज प्रयोग ने काव्य में और अधिक सौन्दर्य एवं चारुता को संवर्द्धित किया है।

भाषा

भाषा शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में प्रचलित है। भावाभिव्यक्ति के सभी साधनों को सामान्य रूप से भाषा कह दिया जाता है। इस प्रकार के अर्थों को पशु-पक्षियों की बोली, इंगित, विभिन्न संकेत और मानव की भाषा शब्दों के द्वारा ग्रहण किया जाता है। इनमें से प्रथम तीन भेद अस्पष्ट एवं अपूर्ण प्रतीत होते हैं। उनके द्वारा गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती है। मानव अपने भावों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिव्यक्ति के लिए जिस व्यक्त वाणी का उपयोग करता है, उसे भाषा कहते हैं।

भाषा शब्द संस्कृत की भाष् (भ्वादिगणी) धातु से बना है। 'भाष्' धातु का अर्थ है - (भाष व्यक्तायां वाचि) व्यक्त वाणी। हलायुधकोश[1] में भाषा की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है - "भाष् + 'गुरोश्च हल' इत्य प्रत्यय:। टाप्।" **भाष्यते व्यक्तवाग्रूपेण अभिव्यज्यते इति भाषा** अर्थात् व्यक्त वाणी के रूप में जिसकी अभिव्यक्ति की जाती है, उसे भाषा कहते हैं।

आराधना प्रकरण की भाषा के विषय में यदि अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण प्रकरण ग्रंथ महाराष्ट्री प्राकृत में रचित है। प्राकृत भाषा के कई रूप प्राप्त होते हैं, जिनमें महाराष्ट्री प्राकृत भी एक रूप है। सामान्य प्राकृत के नाम से जानी जाने वाली महाराष्ट्री प्राकृत का काल लगभग 5वीं शताब्दी से माना गया है, क्योंकि अंतिम तीसरी आगम वाचना के समय से ही व्याख्या साहित्य लिखा जाना प्रारंभ हो गया था। जिसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। इस ग्रंथ की शैली सहज एवं सरल तथा बोधगम्य है। ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय सहज शैली में होने से पाठक को आसानी से स्पष्ट होता जाता है। यद्यपि रचनाकार भाषा-प्रयोग के लिए स्वतंत्र रहता है, किन्तु किसी एक भाषा को मुख्य रूप से स्थान भी देता है। समकालीन भाषाओं का प्रभाव रचनाकार पर अवश्य पड़ता है। आराधना प्रकरण में सामान्य प्राकृत (महाराष्ट्री प्राकृत) के अतिरिक्त यत्र-तत्र अपभ्रंश का भी प्रयोग देखने को मिलता है। भाषागत वैशिष्ट्य के अंतर्गत कारक, क्रिया-रूप, स्वर-व्यंजन परिवर्तन, आगम, लोप, व्यत्यय आदि बिन्दुओं के आधार पर कृति का मूल्यांकन किया जाना अपेक्षित है, लेकिन जिनकी प्रवृत्ति यहाँ हो रही है, उनमें से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

1. सामान्य प्राकृत में ऋ वर्ण का अभाव देखा जाता है, उसके स्थान पर अ, इ, उ और रि का प्रयोग होता है। आराधना प्रकरण ग्रंथ में "'ऋ' के स्थान पर "अ", "इ" और "उ" के प्रयोग मिलते हैं। जैसे

ऋ	-	अ	-	हृता	- हया (गाथा, 16,17)
				व्यापृतेनं	- वावडेणं (गाथा, 20)
				वृषभ	- वसहा (गाथा, 41)
				कृतं	- कयं (गाथा, 48)
				कृताइं	- कयाइं (गाथा, 50)
				सुकृतं	- सुकयं (गाथा, 51)

1. हलायुध कोश, पृ. 459, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1957

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

			पूर्वकृत	–	पुव्वकय (गाथा, 55)
ऋ	–	इ –	हृदयेणं	–	हिअएणं (गाथा, 21)
			कृमि	–	किमि (गाथा, 15)
ऋ	–	उ –	पृथ्वी	–	पुढवी (गाथा, 14)

2. ऐ और औ के स्थान पर ए, तथा ओ या अव का प्रयोग। प्रस्तुत ग्रंथ में औ के स्थान पर ओ, अउ तथा ऐ के स्थान पर दोनों का ही प्रयोग हुआ है। जैसे –

औ	–	ओ,अउ –	चौंतीस	–	चउतीस (गाथा, 31)
			रौद्र	–	रउद्द (गाथा, 35)
			चौबीस	–	चोबीस (गाथा, 54)
ऐ		– ए	पैशुन्यम्	–	पेसुन्नं (गाथा, 29)

3. क, ग, च, ज, त, द, प, य वर्णों के शब्द के मध्य होने पर विकल्प से लोप हो जाता है, तथा विकल्प से शेष अ को य श्रुति भी हो जाती है। यथा –

क का लोप	नरनारक	–	नरनारएण (गाथा, 57)
	लोके	–	लोए (गाथा, 55)
च का लोप तथा य श्रुति –	अतिचारो	–	अइयारो (गाथा, 2)
	आचारे	–	आयारे (गाथा, 4)
	जलचर	–	जलयर (गाथा, 18)
	थलचर	–	थलयर (गाथा, 18)
	खेचर	–	खयर (गाथा, 18)
	वचनं	–	वयणं (गाथा, 19)
	रचितं	–	रइअं (गाथा, 70)
ज का लोप	पूजा	–	पूआ (गाथा, 10)
	राजसिंह	–	रायसिंहो (गाथा, 68)
त का लोप	भणति	–	भणइ (गाथा, 1)
	समिति	–	समिइ (गाथा, 13)
	पूतर	–	पूअर (गाथा, 15)
	भाषितम्	–	भासिअं (गाथा, 19)
	श्रुतं	–	सुअं (गाथा, 58)
	गति	–	गइ (गाथा, 60)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करतलगतं – करयलगयं (गाथा, 62)
रत्नवती – रयणवई (गाथा, 69)

द का लोप – निःशंकितादि – निस्संकियाइं (गाथा, 8)
गोपदं – गोपयं (गाथा, 66)

प का लोप एवं उसके स्थान पर व –

पाप – पाव (गाथा, 2)
तप – तवंमि (गाथा, 4)
उपहास – उवहासो (गाथा, 7)
उपाध्याय – उवज्झाया (गाथा, 53)

य का लोप तथा य के स्थान पर ज –

योगेषु – जोगेसु (गाथा, 25)
यथा – जहा (गाथा, 26)
युक्त – जुआ (गाथा, 31)
येन – जेण (गाथा, 58)

4. संयुक्त व्यंजनों के पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर ह्रस्व होते हैं। यथा –

भव्यात्मा भविअप्पा
पूर्व – पुव्व (गाथा, 27)
उपाध्याय – उवज्झाया (गाथा, 53)

5. प्राकृत में विसर्ग नहीं होता। प्रायः इसके स्थान पर ओ हो जाता है। यथा –

सः धर्मः – सो धम्मो (गाथा, 43)
चित्तः – चित्तो (गाथा, 47)
कुमार्गः – कुमग्गो (गाथा, 49)
बहुमानः – बहुमाणो (गाथा, 53)
वधः – वहो (गाथा, 61)
परायणः – परायणो (गाथा, 68)

6. अन्तिम म् अनुनाशिक या अनुस्वार में बदल जाता है। यथा –

समोचितम् – समउचिअं (गाथा, 1)
ज्ञानम् – नाणं (गाथा, 5)
चरणम् – चरणं (गाथा, 13)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पैशुन्यम् – पेसुन्नं (गाथा, 29)
शरणम् – सरणं (गाथा, 33)
सुकृतम् – सुकयं (गाथा, 51)

7. श, ष और स के स्थान पर केवल स का प्रयोग।

यथा – श के स्थान पर स –

नि:शंकिता – निस्संकियाइं (गाथा, 9)
विनाशम् – विणासं (गाथा, 11)
शक्तियेन् – सत्तिए (गाथा, 24)
शरणम् – सरणं (गाथा, 31)
परिशुद्धं – परिसुद्धं (गाथा, 39)
शमित – समिआ (गाथा, 41)
शीलम् – सीलं (गाथा, 58)

ष के स्थान पर स –

भाषितम् – भासिअं (गाथा, 19)
कषाय – कसाया (गाथा, 38)
वृषभ – वसहा (गाथा, 41)
पोषितम् – पोसिअं (गाथा, 5)

8. खघथधभाम (8/1/187) सूत्र के अनुसार ख, घ, थ, ध, भ, का 'ह' हो जाता है। यथा –

ख, घ, थ, ध, भ, के स्थान पर 'ह' –

क्रोधलोभ – कोहलोह
मिथुनं – मेहुणं (गाथा, 21)
प्रमुखं – पमुहं (गाथा, 22)
माधुकरीवृत्ति – महुअरिवित्ति (गाथा, 39)
सुलभ: – सुलहो (गाथा, 60)
भवजलधि – भवजलही (गाथा, 66)
आराधित्वा – आराहिऊण (गाथा, 69)

9. 'टोड:' सूत्र के माध्यम से कहीं-कहीं 'ट' के स्थान पर 'ड' की प्रवृत्ति भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिलती है। यथा -

ट के स्थान पर ड

कोटि	-	कोडि (गाथा, 44)
भवअटवी	-	भवअडवी (गाथा, 46)
पापकुटुंबकम्	-	पावकुडंबयं (गाथा, 50)

10. यत्र-तत्र क्ष के स्थान पर 'ख' का प्रयोग भी इस ग्रंथ में किया गया है। यथा -

भवक्षेत्रे	-	भवखिते (गाथा, 34)
क्षमासु	-	खामेसु (गाथा, 27)

11. इस आराधना प्रकरण ग्रंथ में यत्र-तत्र अपभ्रंश का प्रयोग भी मिलता है। यथा -

भावं	-	भावउं (गाथा, 10)
उपेक्षित	-	उवक्खिउं (गाथा, 11)
विधि	-	विहिउं (गाथा, 14)
जातं	-	जाउं (गाथा, 37)
भवचतुर्गतम्	-	भवचारग्गउं (गाथा, 47)
मुणिः	-	मुणिउं (गाथा, 60)
रमणीः	-	रमणीउं (गाथा, 65)

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि श्री सोमसूरि ने आराधना प्रकरण में सामान्य प्राकृत भाषा का प्रयोग कर शैली को सरल एवं भावगम्य बना दिया है। उक्त लक्षणों के अतिरिक्त इसमें प्राकृत के अन्य लक्षण भी घटित होते हैं। अपभ्रंश का प्रभाव भी इस कृति में देखने को मिलता है। इसके आधार पर श्री सोमसूरि की गणना लगभग 12 वीं शताब्दी के बाद की मानी जा सकती है।

* * *

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री सोमसूरि विरचित

आराधना प्रकरण

अथ नमः श्रीपरमात्मने[1] ॥

नमिऊण भणइ[2] भयवं समउचिअं समाइससु।
तत्तो वागरइ[3] गुरू पज्जंताराहणा[4] एअं[5] ॥ 1 ॥

अन्वय : एवं नमिऊण भणइ, भयवं समउचिअं समाइससु, तत्तो गुरू एअं पज्जंताराहणा वागरइ।

अनुवाद : परमात्मतत्त्व को नमस्कार हो। इस प्रकार भगवान् (महावीर) को प्रणाम कर कहते हैं कि शास्त्र सम्मत (करणीय कार्य का) आदेश दें। तब गुरु इस सम्पूर्ण आराधना (पर्यन्ताराधना) को कहते हैं।

आलोइसु[6] अइयारो[7], वयाइं उच्चरसु खमसु जीवेसु।
वोसिरसु भाविअप्पा, अट्ठारसपावगणाइं ॥ 2 ॥

अन्वय : अइयारो आलोइसु वयाइं उच्चरसु जीवेसु खमसु भाविअप्पां अट्ठारसपावगणाइं वोसिरसु।

अनुवाद : अतिचारों की आलोचना करो, व्रतों का पालन करो, जीवों को क्षमा करो। हे भव्यात्मा! अठारह प्रकार के पापों को गिनकर (उनका) त्याग करो।

चउसरणदुक्कडगरिहणं च, सुकडाणुमोअणं कुणसु।
सुहभावणं अणसणं, पंचनमुक्कारसरणं च ॥ 3 ॥

अन्वय : चउसरणं दुक्कडगरिहणं सुकडं अणुमोअणं सुहभावणं अणसणं च पंचनमुक्कारसरणं च।

अनुवाद : चार शरण, दुष्कृत की गर्हा, सुकृत का अनुमोदन, शुभभावना, उपवास एवं पंच नमस्कार शरणभूत को ग्रहण करो।

नाणंमि दंसणंमि[8] अ, चरणम्मि[9] तवंमि तह य विरअंमि[10]।
पंचविहे आयारे, अइआलोअणं[11] कुणसु ॥ 4 ॥

---

1. (ब) अर्हं
2. (ब) भणई
3. (ब) ०ई
4. (अ) ०णं
5. (ब) एअ
6. (ब) आलोअसु
7. (ब) अई आरे
8. (ब) दंसणंमी
9. (अ) चरणंम्मि
10. (ब) विरिअंमि
11. (अ) आइआरालोअणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वय : नाणंमि, दंसणमि अ, चरणम्मि, तवंमि तह य विरअंमि पंचविहे आयारे अइआलोअणं कुणसु।

अनुवाद : ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य रूप पंचाचार में बार-बार आलोचना करो (अत्यधिक मन लगाओ)।

कालविणयाई[1] अट्ठप्पयारायारविरहिअं नाणं।
जं किंचि मए[2] पढिअं मिच्छामि दुक्कडं तस्स॥ 5॥

अन्वय : कालविणयाई अट्ठप्पयार आयार विरहिअं नाणं जं किंचि मए पढिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अनुवाद : काल, विनयादि आठ प्रकार के आचार से रहित ज्ञान जितना मेरे द्वारा पढ़ा गया, उसके लिए मैं क्षमा याचना करता हूँ (दुष्कृत का परित्याग करता हूँ)।

नाणीण जं न दिन्नं, सइसामच्छम्मि[3] वत्थअसणाई।
जा य[4] विहिआ[5] अवन्ना, मिच्छामि दुक्कडं तस्स॥ 6॥

अन्वय : सइसामच्छम्मि नाणीण वत्थअसणाई जं ण दिन्नं जा अवन्ना विहिआ य तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अनुवाद : हमेशा सामर्थ्य के अनुसार ज्ञानीजनों को वस्त्र-असनादि न देकर जो अवज्ञा की है, उसके लिए क्षमा याचना करता हूँ।

जं पंचभेअनाणस्स, निंदणं ज[6] इमस्स उवहासो।
जो अकउं उवघाउं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स॥ 7॥

अन्वय : जं पंचभेअनाणस्स निंदणं जो इमस्स उवहासो ज उवघाउं अकउं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अनुवाद : जिस पांच भेद वाले ज्ञान की जो निन्दा, उपहास व उपघात (मैंने) किया है, उसके लिए (मैं) क्षमा याचना करता हूँ।

नाणोवगरणभूआणं[7], कवलिआ फलयपुत्थिआईणं[8]।
आसायणा[9] कया जं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स॥ 8॥

अन्वय : नाणोवगरणभूआणं, कवलिआ फलयं पुत्थिआईणं जं आसायणा कया

1. (अ) विणयाइ 2. (ब) माए 3. (ब) सइसामच्छमि
4. (ब) 'य' का अभाव 5. (ब) विहि आय 6. (ब) 'ज' का अभाव
7. (ब) °भूयाण 8. (अ) फलिय° (ब) फलयपुत्थयाईणं
9. (ब) आसाईअणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अनुवाद : ज्ञान के उपकरणभूत कवलिया, फलक (काठ का तख्ता), पोथी (शास्त्र) आदि की जो असातना की है, उसके लिए क्षमा याचना करता हूँ।

जं समत्तं निस्संकियाइं, अट्ठविहगुणसमाउत्तं।
धारिअं[1] मए न सम्मं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स॥ 9॥

अन्वय : निस्संकियाइं अट्ठविहगुण-समाउत्तं जं समत्तं मए सम्मं न धारिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अनुवाद : नि:शंकितादि आठ प्रकार के गुणों से युक्त (कथित) जिस सम्यक्त्व को मैंने सम्यक् रूप से धारण नहीं किया है, उसके लिए क्षमा याचना करता हूँ।

जं भजणिया जिणाणं, जिणपडिमाणं च भावउं पूआ।
जं च अभत्ती विहिआ, मिच्छामि दुक्कडं तस्स॥ 10॥[2]

अन्वय : जं भजणिआ जिणाणं जिणपडिमाणं भावउं पूआ जं च अभत्ती विहिआ, तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अनुवाद : जो पूज्यनीय तीर्थंकरों एवं जिनप्रतिमाओं की भावसहित पूजा की है, उसमें जो अभक्ति हुई हो, उसके लिए क्षमा याचना करता हूँ।

जं विरइउं[3] विणासो चेईअदव्वस्स[4] जं विणासन्तो।
अन्नो उवक्खिउं[5] मे मिच्छामि दुक्कडं तस्स॥ 11॥

अन्वय : विरइउं विणासो, चेईअ दव्वस्स विणासन्तो मे अन्नो जं उवक्खिउं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अनुवाद : विरति (संयम) का विनाश (और) चैत्य द्रव्य का विनाश करता हुआ मेरे द्वारा अन्य का जो विनाश (उपेक्षा) किया गया हो, उसके लिए मैं क्षमा याचना करता हूँ।

आसायणं कुणंतो, जं कहवि जिणंदमंदिराइसु।
सत्तिए न निसिद्धो, मिच्छामि दुक्कडं तस्स॥ 12॥[6]

---

1. (अ, ब) - धरिअं
2. ब प्रति में यह गाथा नहीं है।
3. (ब) - विरईउं
4. (अ) चेइ°
5. (अ, ब) - उवक्खिउ
6. ब प्रति में यह गाथा नहीं है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वय : जं कहवि जिणंदमंदिराइसु आसयणं कुणंतो सत्तिए निसिद्धो न तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अनुवाद : जिस प्रकार से जिनमन्दिर आदि में असातना करते हुए शस्त्रों (हिंसा) का निषेध नहीं किया हो, उसके लिए क्षमा याचना करता हूँ।

जं पंचहिं समिइहिं[1] तीहिगुत्तीहिं[2] संगयं सययं।
परिपालिअं न चरणं[3] मिच्छामि दुक्कडं तस्स॥ 13॥

अन्वय : पंचहिं समिईहिं तीहि गुत्तीहिं संगयं चरणं जं न परिपालिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अनुवाद : पांच समिति एवं तीन गुप्ति आदि से युक्त अपने आचरण का जो मैंने निरन्तर पालन नहीं किया, उसके लिए क्षमा याचना करता हूँ।

एगिंदिआण जं कहवि, पुढवी जलजलणमारुअतरू णं।
जीवाण वहो विहिउं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स॥ 14॥

अन्वय : जं कहवि पुढवी-जल-जलण-मारुअ-तरू णं एगिंदिआण जीवाण वहो विहिउं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अनुवाद : जब कभी भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं वनस्पति कायिक एकेन्द्रिय जीवों का वध (मेरे द्वारा) हुआ हो, उसके लिए क्षमा याचना करता हूँ।

किमिसंखसुत्तिपूअर,[4] जलोअगंडोलयालसप्पमुहा।
बेइंदिया[5] हया तस्स जं मिच्छामि दुक्कडं तस्स॥ 15॥

अन्वय : किमि, संख, सुत्ति, पूअर, जलोअ, गंडोलयालसप्पमुहा बेइंदिया जं हया तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अनुवाद : कृमि, शंख, सीपी, जल-जन्तु (पूतर), जोंक, जलकृमि विशेष, वर्षा ऋतु में साँप सरीखा लाल रंग का उत्पन्न लम्बा जन्तु आदि प्रमुख द्विइन्द्रिय जीव, जो (मेरे द्वारा) नष्ट हुए, उसके लिए क्षमा याचना करता हूँ।

गद्दहा[6] कुंथुजूआ, मंकुण[7]-मंकोड-कीडिआई[8] या।
तेइंदिया[9] हया जं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स॥ 16॥

---

1. (अ) समिएहिं (ब) समिईहिं
2. (अ ब) तीहिं गुत्तीहिं
3. (ब) चरं णं
4. (अ) संपुत्तिपुअर
5. (ब) बेंदिआ
6. (अ, ब) गद्दह
7. (ब) मंकुड
8. (अ) कीडियाइ
9. (ब) तेंदिआ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वय : गद्दहा, कुंथु, जूआ, मंकुण-मंकोड-कीडिआई या तेइदिया जं हया तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अनुवाद : क्षुद्र जन्तु विशेष, कुंथु, जूं, खटमल (मंकुण-मत्कुण), मकोड़ा, चींटी आदि त्रीन्द्रिय जीव जो मेरे द्वारा नष्ट हुए हों, उसके लिए क्षमा याचना करता हूँ।

कोलिअ-कुत्तिअ-बिच्छू, मच्छिआ सलह-छप्पयप्पमुहा।
चउरिंदिया हया जं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स॥ 17॥

अन्वय : कोलिअ-कुत्तिअ-बिच्छू मच्छिआ सलह-छप्पयप्पमुहा चउरिन्दिया जं हया तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अनुवाद : मकड़ा, कुत्तिअ (कीड़ा विशेष), बिच्छू, मछली, पतङ्ग, भ्रमर (षट्पद) आदि प्रमुख चतुरिन्द्रिय जीवों का जो घात हुआ हो, उसके लिए क्षमा याचना करता हूँ।

जलयर-थलयर-खयरा, आउट्टिपमाय-दप्पकप्पेसु।
पंचेंदिआ[1] हया जं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स॥ 18॥

अन्वय : जलयर-थलयर-खयरा, पंचेन्दिआ, आउट्टि-पमाय-दप्पकप्पेसु, जं हया, तस्स, मिच्छामि, दुक्कडं।

अनुवाद : जलचर, थलचर और आकाशीय पंचेन्द्रिय जीवों की विशेष अनुष्ठानों में प्रमाद एवं दर्प के कारण हुई हिंसा (घात) के लिए मैं क्षमा याचना करता हूँ।

जं कोहलोहभयहास-परवसेणं मए विमूढेणं।
भासिअमसच्चवयणं, तं निंदेतं च गरिहामि[2]॥ 19॥

अन्वय : कोह-लोह-भय-हास-परवसेणं मए विमूढेणं जं असच्च-वयणं भासिअं तं निंदेतं च गरिहामि।

अनुवाद : क्रोध, लोभ, भय (और) हास के वशीभूत होकर मुझ मूढ़ द्वारा जो असत्य वचन बोला गया, उसकी मैं निन्दा करता हूँ एवं गर्हा करता हूँ।

जं कवडवावडेणं, मए परं[3] वंचिऊण थोवंपि।
गिहिअं[4] धणं अदिन्नं, तं निंदेतं च गरिहामि॥ 20॥

---

1. **(अ)** पंचंदिआ
2. (अ) गिरिहामि
3. **(ब)** पर
4. (ब) गहिअं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वय : कवडवावडेणं जं मए परं वंचिऊण थोवंपि अदिन्नं धणं गिहिअं तं निंदेतं च गरिहामि।

अनुवाद : कपट से व्यापृत होकर मेरे द्वारा वंचना करके थोड़ा भी बिना दिए हुए धन का ग्रहण (चोरी) किया गया, उसके लिए (मैं) निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

दिव्वं व माणुसं वा, तिरिच्छं[1] वा सरागहिअएणं।
जं मेहुणमायरिअं[2] तं निंदेतं च गरिहामि॥ 21॥

अन्वय : सरागहिअएणं दिव्वं व माणुसं वा, तिरिच्छं जं मेहुणं आयरिअं तं निंदेतं च गरिहामि।

अनुवाद : सराग हृदय से देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी अथवा तिर्यग् सम्बन्धी मैथुन का आचरण किया, उसकी (मैं) निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

जं धणधन्नसुवन्नं, पमुहंमि परिग्गहे[3] नव विहंमि[4]।
विहिउं[5] ममत्तभावो, तं निंदेत च गरिहामि॥ 22॥

अन्वय : जं धणधन्नसुवन्नं, पमुहंमि नव विहंमि परिग्गहे विहिउं ममत्तभावो तं निंदेतं च गरिहामि।

अनुवाद : जो धनधान्य सुवर्णादि प्रमुख नौ प्रकार के परिग्रहों में लिप्त होकर (मैंने) ममत्व का पालन (भाव) किया, उसकी (मैं) निंदा और गर्हा करता हूँ।

जं राइभोअणवेरमणाइं, नियमेसु विविहरूवेसु।
खलिअं मह संजायं, तं निंदेतं च गरिहामि॥ 23॥

अन्वय : राइभोअणवेरमणाइं विविहरूवेसु नियमेसु जं खलिअं मह संजायं तं निंदेतं च गरिहामि।

अनुवाद : रात्रि भोजन विरमणादि विविध प्रकार के नियमों में जो स्खलन मेरे द्वारा हुआ है, उसकी (मैं) निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

बाहिरमब्भिंतरिअं[6] तवं दुवालसविहं जिणुद्दिट्ठं।
जं सत्तिए[7] न कयं, तं निंदेतं च गरिहामि॥ 24॥

अन्वय : जिणुद्दिट्ठं बाहिरमब्भिंतरिअं दुवालसविहं तवं सत्तिए जं न कयं तं निंदेतं

---

1. (अ) तेरिच्छं
2. (अ) मिहुण
3. (अ) परिग्गहं
4. (ब) विहेवि
5. (ब) विहिउ
6. (अ) तरियं
7. (ब) सत्तीए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

च गरिहामि।

अनुवाद : 'जिन' के द्वारा उपदिष्ट बाह्य और आभ्यन्तर बारह प्रकार के तप को अपनी सामर्थ्य के अनुसार जो (मैंने) नहीं किया, उसकी (मैं) निंदा व गर्हा करता हूँ।

जोगेसु मुक्खपहसाहगेसु, जं वीरिअं न य पहुत्तं[1]।
मणवायाकाएहिं, तं निंदेतं च गरिहामि॥ 25॥

अन्वय : मुक्खपहसाहगेसु, जोगेसु मणवायाकाएहिं, जं पहुत्तं वीरिअं न (कअं) तं निंदेतं च गरिहामि।

अनुवाद : मोक्ष साधक उपायों में मन, वचन व काय से मैंने सामर्थ्यानुसार प्रभूत रूप से शक्ति नहीं लगाई (आचरण नहीं किया) उसकी (मैं) निंदा व गर्हा करता हूँ।

पाणाइवायविरमण, पमुहाई[2] तुमं दुवालसवयाइं।
सम्मं परिभावंतो, भणसु[3] जहा गहिआभंगाइं[4]॥ 26॥

अन्वय : पाणाइवायविरमण, पमुहाइ दुवालसवयाइं सम्मं परिभावंतो, जहा अभंगाइं तुमं गहिअं (तं) भणसु।

अनुवाद : प्राणातिपात विरमण आदि प्रमुख बारह व्रतों को सम्यक् रूप से भावित करते हुए जैसे भंग रहित निरन्तर (आपने) ग्रहण किया है, (पाला है) उसे कहो –

खामेसु सव्वसत्ते, खमेसु तेसिं तुमं विगय कोवो[5]।
परिहरिअ पुव्ववेरो, सव्वे मित्तिं[6] त्ति चिंतेसु॥ 27॥

अन्वय : तुमं सव्वसत्ते खामेसु कोवो विगय तेसिं खमेसु पुव्ववेरो परिहरिअ सव्वे (जीवेसु) मित्तिं त्ति चिंतेसु।

अनुवाद : तुम समस्त जीवों से क्षमा याचना करो। क्रोध शमन करके उनको क्षमा प्रदान करो। पूर्व जन्मों के बैर को त्याग कर सभी जीवों में मैत्रीभाव का चिन्तन करो।

पाणाइवायमलीकं[7] – चोरिक्कम्मं[8] मेहुणं[9]।
दविणमुच्छं कोहं माणं, मायं, लोभं, पिज्जं तहा दोसं॥ 28॥

---

1. न य पहुत्तं के लिए अ प्रति में मणप्पहुत्तं दिया गया है। 2. (ब) °इं
3. (अ) भणुसु, ब – ज भणसु 4. (अ, ब) गहिअभंगाइं 5. (अ) वो,
6. (अ) मित्ति, ब – मित्त 7. (अ) °मिलिअं 8. (अ, ब) चोरिक्कं 9. (अ) मिहुणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वय : पाणाइवायं अलीकं, चोरिकम्मं, मेहुणं, दविणमुच्छं, कोहं, माणं, मायं, लोभं, पिज्जं तहा दोसं।

अनुवाद : हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह (धन के प्रति मूर्छा), क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष (पाप कहे गये हैं)।

कलहं अल्पक्खाणं पेसुन्नं[1] रइअरइं[2] समाउत्तं।
परपरिवायं[3] माया-मोसं मिच्छत्तं[4] सल्लं च॥ 29॥

अन्वय : कलहं, अल्पक्खाणं, पेसुन्नं, रइअरइं, परपरिवायं, मायामोसं मिच्छत्तं च सल्लं समाउत्तं।

अनुवाद : कलह, कूट, पैशुन्य, रति-अरति, परपरिवाद, छल-छद्म, मिथ्यात्व और शल्य पाप कहे गये हैं।

वोसिरसु इमाइं मुक्खमग्ग-संसग्गे[5] विग्घभूयाइं।
दुग्गइ - निबंधणाइं, अट्ठारस - पावगणाइं॥ 30॥

अन्वय : मुक्खमग्ग-संसग्गे विग्घभूयाइं दुग्गइ-निबंधणाइं इमाइं अट्ठारस पावगणाइं वोसिरसु।

अनुवाद : मोक्ष मार्ग के संसर्ग में विघ्नभूत, दुर्गति का निबन्धन करने वाले इन अठारह प्रकार के पापों का त्याग करो।

चउतीसअइसयजुआ, अट्ठमहापाडिहार[6] पडिपुन्ना।
सुरविहिअसमोसरणा[7] अरिहंता[8] मज्झ ते सरणं॥ 31॥

अन्वय : चउतीस अइसयजुआ अट्ठमहापाडिहारपडिपुन्ना सुरविहिअ समोसरणा अरिहंता मज्झ ते सरणं (होन्तु)।

अनुवाद : चौंतीस अतिशयों से युक्त, आठ प्रातिहार्यों से परिपूर्ण और देवताओं सहित समवसरण की रचना करने वाले (ऐसे), वे अरिहंत मेरे शरणभूत हों।

चउविहकसायचत्ता[9], चउवयणा चउप्पयार[10] धम्मकहा।
चउगइदुहनिद्दलणा, अरिहंता मज्झ ते सरणं॥ 32॥

अन्वय : चउविह कसयचत्ता चउप्पयार धम्मकहा चउगइदुहनिद्दलणा ते अरिहंता मज्झ सरणं (होन्तु)।

---

1. (अ) पेसु
2. (ब) रइअरइ
3. (ब) परिपरिवायं
4. (अ, ब) मिच्छत्त
5. (अ) संसग्गि, ब - संसग्ग
6. (अ, ब) °पाडिहेर
7. (ब) °समवसरणा
8. (ब) अरहंता
9. (अ) चउवीह°
10. (अ) चउवयार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद : चारों कषायों का त्याग करने वाले, चतुर्विध समवसरण में दान, शील, तप एवं भाव रूप चार प्रकार के धर्म का कथन करने वाले और चतुर्गति (देव, मनुष्य, नारकी, तिर्यंच) के दु:ख का दलन (नाश) करने वाले, ऐसे वे अरिहंत मेरे शरणभूत हों।

जे अट्ठकम्ममुक्का, वरकेवलनाणमुणिअ परमत्था।
अट्ठमयट्ठाणरहिआ[1], अरिहंता[2] मज्झ ते सरणं॥ 33॥

अन्वय : जे अट्ठकम्ममुक्का परमत्था वरकेवलनाण मुणिअ अट्ठमयट्ठाणरहिआ ते अरिहंता मज्झ सरणं (होन्तु)।

अनुवाद : जो आठ कर्मों से रहित (सिद्धि को) प्राप्त करने वाले, परमार्थ व श्रेष्ठ केवलज्ञान को जानने वाले तथा आठ प्रकार के मद से रहित, ऐसे वे अरिहंत मेरे शरणभूत हों।

भवखित्ते अरुहंता, भवारिप्पहरणेण[3] अरिहंता।
जे तिजगपूअणिज्जा, अरिहंता मज्झ ते सरणं॥ 34॥

अन्वय : भवखित्ते अरुहंता, भवारिप्पहरणेण जे अरिहंता च (जे) तिजगपूअणिज्जा, ते अरिहंता मज्झा सरणं (होन्तु)।

अनुवाद : संसार क्षेत्र में जन्म नहीं लेने वाले, भव रूपी शत्रु का हरण कर दें, ऐसे जो अरिहंत हैं, तथा जो तीनों जगत् में पूज्यनीय हैं, ऐसे वे अरिहंत मेरे शरणभूत हों।

तरिऊण[4] भवसमुद्दं, रउद्दुह[5] लहरि लक्खदुल्लंघं[6]।
जे सिद्धिसुहं[7] पत्ता, ते सिद्धा हुन्तु में सरणं॥ 35॥

अन्वय : लक्खदुल्लंघं रउद्दुह लहरि भवसमुद्दं तरिऊण जे सिद्धिसुहं पत्ता ते सिद्धा में सरणं (होन्तु)।

अनुवाद : करोड़ों (लाखों - लाख) दुर्लंघनीय एवं देखने में भयानक दु:ख रूपी तरंगों वाले संसार-सागर को पार करके जिन्होंने सिद्धि के लिए सुख प्राप्त किया है, ऐसे सिद्ध मेरे शरणभूत हों।

ज[8] भंजिऊण तवमुग्गरेहिं[9] निवडाइं[10] कम्मनिअलाइं[11]।
संपत्ता मुक्खसुहं, ते सिद्धा हुन्तु मे सरणं॥ 36॥

---

1. (अ) अट्ठमयज्झाणरहिआ 2. (ब) - अरिहं हंता 3. (अ,ब) भावा 4. (अ) तरिउण
5. (ब) °दुलहरि 6. (ब) °दुल्लंखं 7. (अ) सिद्धसुहं 8. (ब) जे
9. (अ) तवमुग्गेण 10. (अ) निविडाइं 11. (ब) - °निगडाइं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वय : जं तवमुग्गरेहिं निवडाइं कम्मनिअलाइं भंजिऊण मुक्खसुहं संपत्ता ते सिद्धा मे सरणं (होन्तु)।

अनुवाद : जिन्होंने उग्र तपों द्वारा जकड़े हुए कर्म-बन्धनों को तोड़ कर मोक्ष-सुख को प्राप्त किया है। ऐसे वे सिद्ध मेरे शरणभूत हों।

झाणानलजोगेणं, जाउं निद्दड्ढ[1] सयलकम्ममलो।
कणगं व जाणअप्पा, ते सिद्धा हुन्तु मे सरणं॥ 37॥

अन्वय : झाणानल-जोगेणं सयलकम्ममलो निद्दड्ढ व कणगं अप्पा जाण ते सिद्धा मे सरणं होन्तु।

अनुवाद : ध्यानरूपी अग्नि के योग से समस्त कर्म-मलों को भस्म करने (जलाने) वाले तथा निर्मल आत्मस्वरूप को जानने वाले, ऐसे वे सिद्ध मेरे शरणभूत हों।

झाण[2]-न जम्मो न जरा, न वाहिणो[3] न मरणं न-वाबाहा।
न य कोहाइकसाया, ते सिद्धा हुन्तु मे सरणं॥ 38॥

अन्वय : य न झाण न जम्मो न जरा (न) वाहिणो न मरणं न वाबाहा न य कोहाइकसाया ते सिद्धा मे सरणं हुन्तु।

अनुवाद : जिनके न ध्यान है, न जन्म है, न व्याधि (रोग) है, न मरण है अथवा न मन की व्याधि (अव्याबाधि) और न क्रोध, मान, माया व लोभरूप कषाय हैं, ऐसे वे सिद्ध मेरे शरणभूत हों।

काउं महुअरिवित्तिं, जे बयालीस-दोस-परिसुद्धं।
भुंजन्ति भत्तपाणं, ते मुणिणो हुन्तु मे सरणं॥ 39॥

अन्वय : जो बयालीस दोस परिसुद्धं महुअरिवत्तिं भत्तपाणं भुंजन्ति ते मुणिणो मे सरणं हुन्तु।

अनुवाद : जो बयालीस दोषों से परिशुद्ध मधुकर (भ्रमर) की वृत्ति से आहार को भोगते (ग्रहण करते) हैं, ऐसे वे मुनि मेरे शरणभूत हों।

पंचिंदिअदमणयरा[4] निज्जिअ कंदप्पदप्पसरपसरा।
धारंति बंभचेरं, ते मुणिणो हुन्तु मे सरणं॥ 40॥

अन्वय : पंचिंदिअदमणयरा कंदप्पदप्पसरपसरा निज्जिअ बंभचेरं धारंति ते मुणिणो मे सरणं हुन्तु।

---

1. (अ) निद्दढ 2. (अ, ब)जाण° 3. (अ) वाहिणा
4. (अ) पंचंदिअ°

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद : पांचों इन्द्रियों का दमन करने में प्रवीण, कामदेव (विषय-वासनाओं) के दर्प रूपी बाणों के प्रसार को जीतने वाले (एवं) ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले (ऐसे) वे मुनि मेरे शरणभूत हों।

जे पंचसमिइसमिआ[1] पंचमहव्वयभरुव्वहणवसहा।
पंचमगइ-अणुरत्ता, ते मुणिणो हुन्तु मे सरणं॥ 41॥

अन्वय : पंचसमिइसमिआ पंचममहव्वय-भरुव्वहण-वसहा जे पंचमगइ- अणुरत्ता ते मुणिणो मे सरणं हुन्तु।

अनुवाद : पाँच समितियों से युक्त होने वाले, वृषभ (तीर्थंकर)की तरह पाँच महाव्रत के भार को ढोने वाले (पालन करने वाले)पाँचवी गति (मोक्ष)प्राप्ति में अनुरक्त (ऐसे), वे मुनि मेरे शरणभूत हों।

जे चत्तसयलसंगा, समतिणमणि[2] सत्तुमित्तणो[3] धीरा।
साहंति मुक्खमग्गं, ते मुणिणो हुन्तु मे सरणं॥ 42॥

अन्वय : जे सयलसंगा चत्त तिणमणि च सत्तुमित्तणो सम धीरा मुक्खमग्गं साहंति ते मुणिणो मे सरणं हुन्तु।

अनुवाद : जो समस्त परिग्रहों के त्यागी हैं, तृण (घास) एवं मणि को तथा शत्रु एवं मित्र को समान मानने वाले धीर पुरुष हैं, मोक्ष-मार्ग का कथन (उपदेश)करने वाले हैं, ऐसे वे मुनि मेरे शरणभूत हों।

जो केवलणाणदिवायरेहिं[4] तित्थंकरेहिं पन्नत्तो।
सव्वजगज्जीवहिउं[5] सो धम्मो होतु मम[6] सरणं॥ 43॥

अन्वय : जो केवलणाणदिवायरेहिं तित्थंकरेहिं पन्नत्तो (तहा) सव्वजगज्जीवहिउं सो धम्मो मम सरणं होतु।

अनुवाद : जो केवलज्ञान रूप सूर्य स्वरूप तीर्थंकरों के द्वारा प्रज्ञप्त है तथा संसार में सभी जीवों का हितकारक है, वह धर्म मेरा शरणभूत हो।

कल्लाण-कोडि-जणणा,[7] जत्थ अणत्थप्पबंध-निद्दलणी[8]।
वण्णिज्जइ[9] जीवदया, सो धम्मो होतु मम सरणं॥ 44॥

---

1. (अ) पंचसमिसमिआ
2. (ब) सममणितिण
3. (ब) मित्तसत्तुणो
4. (अ) °दिवायरे
5. (ब) ०हिअउं
6. (ब) मह
7. (अ) °कोडजणणा (ब) °कोडिजणणी
8. (ब) निद्दणलणी
9. (अ) वणिज्जइ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वय : कोडिजणणा कल्लाण जत्थ अणत्थप्पबंध-निद्दलणी जीवदया वण्णिज्जइ सो धम्मो मम सरणं होतु।

अनुवाद : करोड़ों मनुष्यों के लिए कल्याणकारी, अनर्थ (अधर्म) के प्रबन्धन का दलन करनेवाला और जीवदया का वर्णन करने वाला, वह धर्म मेरा शरणभूत हो।

जो पावभरक्कंत[1] जीवं भीमंमि कुगइ कूवम्मि।
धारेइ निवडमाणं, सो धम्मो होतु मम सरणं॥ 45॥

अन्वय : पावभरक्कंतं कुगइ भीमंमि कूवम्मि निवडमाणं जीवं जो धारेइ सो धम्मो मम सरणं होतु।

अनुवाद : पाप के भार से आक्रान्त, कुगति (नरक) रूपी भयानक कूप में गिरते हुए जीव को जो धारण करता है, वह धर्म मेरा शरणभूत हो।

सग्गापवग्गपुरमग्ग[2]-लग्गलोआण सत्थवाहो जो।
भवअडवी लंघण-खमो, सो धम्मो होतु मम सरणं॥ 46॥

अन्वय : जो सग्गापवग्गपुरमग्ग-लग्गलोआण सत्थवाहो भवअडवी लंघण-खमो सो धम्मो मम सरणं होतु।

अनुवाद : जो स्वर्ग एवं अपवर्ग (मोक्ष) रूप नगर के मार्ग में लगे हुए लोगों के (जीवों के) लिए सार्थवाह रूप है तथा संसार रूप अटवी को लांघने में समर्थ है, ऐसा वह धर्म मेरा शरणभूत हो।

एवं चउण्हं सरणं पवन्नो, निव्विन्नचित्तो[3] भवचारग्गउं।
जं दुक्कडं किंपि समक्खमेसिं, निंदामि सव्वंपि अहं तमिन्हं[4]॥ 47॥

अन्वय : एवं चउण्हं सरणं पवन्नो निव्विन्नचित्तो भवचारग्गउं समक्खमेसिं जं किंपि दुक्कडं तं इन्हं सव्वंपि अहं निंदामि।

अनुवाद : इस प्रकार अरिहंत, सिद्ध, साधु व धर्म रूप चार प्रकार के शरण से युक्त, निर्विग्न (उद्विग्न) चित्त वाले होकर संसार की चार गतियों में प्रत्यक्ष (समक्ष) जो कुछ भी दुष्कृत (पाप) हुआ हो, उन सबकी मैं निन्दा करता हूँ।

जं इत्थ मिच्छत्तविमोहिएणं, मए भमंतेणं कयं कुतित्थं[5]।
माणेण वायाइकलेवरेण[6], निंदामि सव्वंपि अहं तमिण्हं॥ 48॥

1. (ब) भरुक्कंतं 2. (अ) सग्गो° 3. (ब) निव्वत्तोचित्तो
4. (ब) तमिण्हं 5. (अ) कुंतित्थं 6. (ब) कलेवरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वय : इत्थ मिच्छत्तविमोहिएणं भमंतेणं मए जं कुतित्थं कयं (तं) मणेण वायाइ कलेवरेण तमिण्हं सव्ववंपि अहं निंदामि।

अनुवाद : इस संसार में मिथ्यात्व एवं मोहवशात् भ्रमण करते हुए मेरे द्वारा जो कुतीर्थ (गलत तीर्थ) किया गया। उसकी मन, वाणी एवं शरीर से निन्दा करता हूँ।

पच्छाइउं जं जिणधम्ममग्गं[1] मए[2] कुमग्गं[3] पयडीकउं जं।
जाउं अहेऊं[4] परपावहेऊ[5], निंदामि सव्वंपि अहं तमिण्हं॥ 49॥

अन्वय : जं जिणधम्ममग्गं मए पच्छाइउं (च) कुमग्गं पयडीकउं जं अहेऊं परपावहेऊ जाउं तमिण्हं सव्वंपि अहं निंदामि।

अनुवाद : जो जिनधर्म निर्दिष्ट मार्ग को मैंने प्रच्छादित किया और कुमार्ग को प्रकट किया तथा जो निष्प्रयोजन दूसरों के भयंकर पाप के कारण बने हैं, उन सबकी मैं निन्दा करता हूँ।

जंताणि[6] जं जंतु दुहावहाइं, हलुक्खलाईणि मए कयाइं।
जं पोसिअं पावकुडंबयं च, निंदामि सव्वंपि अहं तमिण्हं॥ 50॥

अन्वय : जं जंतु दुहावहाइं हलुक्खलाईणि जंताणि मए कयाइं जं पावकुडंबयं च पोसिअं अहं इण्हं तं सव्वंपि निंदामि।

अनुवाद : जीवों के दु:खावह जिन यंत्रों हल, उक्खल आदि को मैंने स्थापित किया तथा पाप कुटुंब का (गृहस्थ धर्म का पालन करने पर पापों का) जो पालन- पोषण किया, उन सबकी इस समय निंदा करता हूँ।

जिणभवण-बिंब-पुत्थय-संघसरूवाइं सत्तखित्तेसु[7]।
जं च विअ[8] धण-बीअं, तमहं अणुमोअए[9] सुकयं॥ 51॥

अन्वय : जिणभवण-बिंब-पुत्थय-संघसरूवाइं सत्तखित्तेसु जं (धम्मो) व विअ धण-बीअं तं सुकयं अहं अणुमोअए।

अनुवाद : जिनभवन, जिनप्रतिमा, शास्त्र, चतुर्विधसंघ (श्रावक, श्राविका श्रमण, श्रमणी) स्वरूप सात क्षेत्रों में जो(धर्म) रूपी धन के बीज हैं, उन सब सुकृत का (मैं) अनुमोदन करता हूँ।

---

1. (ब) °मग्गो 2. (अ) मइ 3. (अ, ब) कुमग्गो
4. (ब) अहं जं 5. (अ) °हेउ 6. (ब) जताणि
7. (ब) °खित्तीए 8. (ब) विअं 9. (अ) अणुमोहए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जं सुद्धनाण-दंसण-चरणाइं, भवण्णवप्पवहणाइं।
सम्ममणुपालिआइं, तमहं अणुमोअए सुकयं॥ 52॥

अन्वय : जं भवण्णवप्पवहणाइं सम्ममणुपालिआइं सुद्धनाण-दंसण-चरणाइं तं सुकयं अहं अणुमोअए।

अनुवाद : जो संसार-सागर को तारने वाले सम्यक् रूप से अनुपालित शुद्ध ज्ञान, दर्शन, व चारित्र हैं, उन सुकृतों की मैं अनुमोदना करता हूँ।

जिणसिद्धसूरिउवज्झाया, साहू[1] साहम्मिअ-पवयणेसु[2]।
जं विहिउं बहुमाणो[3] तमहं अणुमोअए सुकयं॥ 53॥

अन्वय : जिणसिद्धसूरिउवज्झाया साहू साहम्मिअ-पवयणेसु जं बहुमाणो विहिउं तं सुकयं अहं अणुमोअए।

अनुवाद : जिन, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि साधर्मिकों के प्रवचनों में जो बहुमान किया गया, उस बहुमान रूप सुकृत का मैं अनुमोदन करता हूँ।

***आवस्सयंमि छब्भेए सामाइअ चोवीसत्थयाइं[4]।**
जं उज्जमिअं सम्मं[5] तमहं अणुमोअए सुकयं॥ 54॥

अन्वय : सामाइअं चोवीसत्थयाइं छब्भेए आवस्सयंमि जं सम्मं उज्जमिअं तं सुकयं अहं अणुमोअए।

अनुवाद : सामायिक, चर्तुर्विंशतिस्तव आदि 6 प्रकार के आवश्यक में जो सम्यक् रूप से उद्यम किया गया है। उस सुकृत का मैं अनुमोदन करता हूँ।

पुव्वकयपुन्नपावाण सुक्खदुक्खाण कारणं लोए।
न य अन्नो कोवि जणो[6], इअ मुणिअं[7] कुणसु सुहभावं॥ 55॥

अन्वय : पुव्वकयपुन्नपावाण सुक्खदुक्खाण लोए अन्नो कोवि जणो न कारणं इअ मुणिअं सुहभावं कुणसु।

अनुवाद : संसार में पूर्वकृत पुण्य-पाप और सुख-दुःख का कारण अन्य और कोई भी व्यक्ति नहीं है, ऐसा जानकर शुभभाव (शुभाचरण) करो।

---

1. (अ, ब) साहु
2. (अ, ब) °प्पवयणेसु
3. (अ) बहुमणो
4. (अ) चोवीसत्थाई, (ब) चउवीसत्थयाइं
5. (ब) सव्वं
6. (अ) जिणो
7. (अ) मणिमुणिअं

* दोनों प्रति में इस गाथा के प्रथम व द्वितीय चरण में व्यत्यय था। जिसे छंद की दृष्टि से प्रथम को द्वितीय व द्वितीय को प्रथम चरण किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुव्विं दुव्विन्नाणं, कम्माणं वेइआण जं मुक्खो।
तं[1] पुण[2] अ वेइआणं, इअ मुणिअं कुणसु सुहभावं॥ 56॥

अन्वय : अ पुव्विं दुव्विन्नाणं वेइआण कम्माणं जं मुक्खो तं वेइआणं (कम्माणं) इअ पुण मुणिअं सुहभावं कुणसु।

अनुवाद : पूर्व में अज्ञानतावशात् किए गए वेदनीय आदि कर्म जो मुक्त हो गए हैं, उन वेदनीय आदि कर्मों को इस प्रकार पुनः जानकर शुभभाव का आचरण करो।

जं तुमए नरनारएण, दुक्खंति तिक्खिअं - तिक्खं[3]।
तत्तो अकित्तिअ[4] मित्तं, इअ मुणिअं कुणसु सुहभाव॥ 57॥

अन्वय : जं नरनारएण तिक्खिअं तिक्खं दुक्खति तुमए तत्तो अकित्तिअ मित्तं इअ मुणिअं सुहभावं कुणसु।

अनुवाद : नर-नारकों के द्वारा प्रदत्त तीक्ष्ण दुःखों को तुमने सहा, वे दुष्कृत करने वाले (अकृत्य) मित्र हैं, ऐसा समझकर शुभभाव (शत्रु में भी मैत्री) में आचरण करो।

जेण विणा[5] चारित्तं, सुअं तवं दाणसीलं[6] अवि सव्वं।
कासकुसुमं व विहलं, इअ मुणिअं कुणसु सुहभावं॥ 58॥

अन्वय : जेण विणा चारित्तं सुअं तवं दाणसील अवि सव्वं कासकुसुमं व विहलं इअ मुणिअं सुहभावं कुणसु।

अनुवाद : जिस के बिना (मैत्री पूर्ण शुभाचरण के बिना) चारित्र श्रुत (सिद्धान्त), तप, दान और शील सभी कासकुसुम की भांति विफल हो जाते हैं, ऐसा जानकर शुभभाव (शुभाचरण) करो।

जं भुंजिऊण[7] बहुहा[8], सुरसेल समूह[9] पव्वएहिंतो[10]।
तित्ती तए न पत्ता[11], तं चयसु चउव्विहाहारं॥ 59॥

अन्वय : जं सुरसेलसमूह पव्वएहिंतो बहुहा भुंजिऊण तए तित्ती न पत्ता तं चउव्विहाहारं चयसु।

---

1. (ब) न
2. (ब) पुणो
3. (ब) तिक्खिअं ति
4. (ब) कित्तिअ
5. (अ) विणाविणा
6. (अ) शीलं
7. (अ) भजीऊण
8. (अ) बऊहा
9. (ब) पमुह
10. (अ) पव्वहिंएहिंतो
11. (अ) पत्तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद : जो मेरु पर्वत के समूह में पर्वतों के सदृश विविध प्रकार के भोगों को तुम्हारे द्वारा भोग कर तृप्ति नहीं प्राप्त की जा सकी, उन चार प्रकार के आहारों (भोगों) का त्याग करो।

जो सुलहो जीवाणं, सुर-नर-तिरि-नरयगइ-चउक्के वि।
मुणिउं दुल्लहं[1] विरइं[2], तं चयसु चउव्विहाहारं॥ 60॥

अन्वय : जो सुर-नर-तिरि-नरय चउक्के वि गइ जीवाणं सुलहो (तस्स) विरइं दुल्लहं मुणिउं तं चउव्विहाहारं चयसु।

अनुवाद : जो (भोजनादि विलास) सुर, नर, तिर्यक्, एवं नरकादि चारों गतियों के जीवों को सुलभ हैं, जिसकी विरति (त्याग) दुर्लभ है। ऐसा जानकर उस चतुर्विध आहार का परित्याग करो।

छज्जीवनिकायवहो[3] अकयंमि कहंपि जो न संभवइ।
भव - भमण - दुहाहारं, तं चयसु चउव्विहाहारं॥ 61॥

अन्वय : छज्जीवनिकायवहो अकयंमि कहंपि जो संभवइ न (च) (जं) भव-भमण-दुहाहारं तं चउव्विहाहारं चयसु।

अनुवाद : षड्जीवनिकाय का वध (आहार हेतु) नहीं किया और कभी भी संभव नहीं है। (क्योंकि यह) भव-भ्रमण रूप दुःख का आधार है, अतः चतुर्विध आहार का परित्याग करो।

चत्तंमि जम्मि[4] जीवाण[5], होइ करयलगयं[6] सुरिंदत्तं।
सिद्धसुहं[7] पि हु सुलहं, तं चयसु[8] चउव्विहाहारं॥ 62॥

अन्वय : जम्मि चत्तंमि जीवाण सुरिंदत्तं करयलगयं होइ (च) सिद्धसुहं पि हु सुलहं तं चउव्विहाहारं चयसु।

अनुवाद : जिसका परित्याग करने पर जीवों को इन्द्रत्व भी प्राप्त (हस्तगत) हो जाता है (अर्थात् इन्द्रपद का सुख प्राप्त हो जाता है) और सिद्धसुख भी सुलभ हो जाता है, उस चतुर्विध आहार का परित्याग करो।

नाणाविहपावपरायणो वि, जं पाविऊण अवसाणे।
जीवो लहइ सुरत्तं, तं सुमरसु[9] मणे नमुक्कारं॥ 63॥

---

1. (अ) दुल्लह (ब) दुलहं
2. (ब) विरयं
3. (ब) °वहे
4. (अ) जंम्मि
5. (अ) जीवाणं
6. (अ) करलगयं
7. (ब) सिद्धिसुहं
8. (अ) चयसु चयसु
9. (अ, ब) सुरसु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्वय : णाणाविहपावपरायणो वि अवसाणे जीवो (तस्स) पाविऊण सुरत्तं लहइ तं नमुक्कारं मणे सुमरसु।

अनुवाद : नाना प्रकार के पापों में अनुरक्त होने पर भी अन्तकाल में जीव [illegible]को प्राप्त (स्मरण) कर देवत्व को प्राप्त कर लेता है, उस नमस्कार महामंत्र को मन में स्मरण करो।

***जेण सहाएण गयाणं[1] परभवे[2] संभवंति[3] भविआणं।**
मणविंछिअ सुक्खाइं, तं सुमरसु मणे नमुक्कारं॥ 64॥

अन्वय : जेण सहाएण परभवे गयाणं भविआणं मणवंछिअ सुक्खाइं संभवंति तं नमुक्कारं मणे सुमरसु।

अनुवाद : जिसकी सहायता से परभव में भी गये हुए भव्यजीवों को मनवांछित सुखों की प्राप्ति होती है, उस नमस्कार महामंत्र को मन में स्मरण करो।

सुलहाउं रमणीउं[4], सुलहं रज्जं सुरत्तणं सुलहं।
इक्कुच्चिअ जो[5] दुलहो, तं सुमरसु मणे नमुक्कारं॥ 65॥

अन्वय : रमणीउं सुलहाउं, रज्जं सुलहं (च) सुरत्तणं सुलहं (तु) इक्कुच्चिअ जो दुलहं तं नमुक्कारं मणे सुमरसु।

अनुवाद : (इस संसार में) सुन्दर स्त्री सुलभ है, राज्य भी सुलभ है और देवत्व भी सुलह हो जाता है, (किन्तु) एक मात्र जो दुर्लभ है, उस नमस्कार महामंत्र को मन में स्मरण करो।

लद्धंमि जंमि जीवाण, जायए गोपयं व भवजलही।
सिव-सुह-सच्चंकारं, तं सुमरसु मणे नमुक्कारं॥ 66॥

अन्वय : जंमि लद्धंमि जीवाण गोपयं व सिव-सुह-सच्चंकारं जायए तं नमुक्कारं मणे सुमरसु।

अनुवाद : जिस भव में (नमस्कार महामंत्र को) प्राप्त कर लेने पर जीवों के लिए यह संसार-सागर गोपद (गाय का खुर) के बराबर हो जाता हैं। उस शिव, सुख (शुभ) और सत्य स्वरूप नमस्कार महामंत्र को मन में स्मरण

---

* ब प्रति में यह गाथा 65 वीं गाथा के रूप में प्रयुक्त हुई है तथा 65 वीं गाथा 64 गाथांक पर अंकित है।

1. (ब) गयाण 2. (अ) पराभवं 3. (ब) संभवेई
4. (ब) रणीउं 5. (अ) जों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करो।

एवं गुरुवइट्ठं[1], पज्जंताराहणं निसुणिऊणं[2]।
वोसिट्ठ सव्व पावो, तहेव आसेवए एसो॥ 67॥

अन्वय : एवं गुरुवइट्ठं पज्जंताराहणं निसुणिऊणं सव्व पावो वोसिट्ठ तहेव एसो आसेवए।

अनुवाद : इस प्रकार गुरु निर्दिष्ट पर्यन्ताराधना को सुनकर सारे पाप समाप्त हो गये। इसी परम्परा से इसका आचरण भी करना चाहिए।

पंचपरमिट्ठिसमरण-परायणो पाविऊण[3] पंचत्तं।
पत्तो पंचमकप्पंमि, रायसिंहो सुरिंदत्तं॥ 68॥

अन्वय : पंचपरमिट्ठि-समरण-परायणो पाविऊण (जीवो) पंचत्तं पंचमकप्पंमि रायसिंहो सुरिंदत्तं पत्तो।

अनुवाद : पांच परमेष्ठियों के स्मरण में परायण (अनुरक्त) जीव मृत्यु को प्राप्त कर पंचमकल्प (पांचवे स्वर्गलोक) में राजसिंह कुमार नामक जीव सुरेन्द्रत्व को प्राप्त करता है।

तप्पत्तीरयणवई, तहेव आराहिऊणं[4] तं[5] कप्पे[6]।
सामाणिअत्त पत्तो, दोवि[7] चुआ निव्वुइस्संति॥ 69॥

अन्वय : तप्पत्ती रयणवई तहेव आराहिऊणं (पंच कप्पंमि)सामाणिअत्त पत्तो (पंचं कप्पंमि)दोवि चुआ निव्वुइस्संति।

अनुवाद : उसकी (राजसिंह की) पत्नी रत्नवती ने उसी प्रकार (पंचपरमेष्ठी की) आराधना करके उसी कल्प में सामानिकत्व को प्राप्त किया। वहाँ से (पंचम देवलोक से) दोनों (राजसिंह एवं उसकी पत्नी रत्नावती) च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त करेंगे।

सिरिसोसूरिरइअं, पज्जंताराहणं पसमजणणं[7]।
जे अणुसरंति सम्मं, लहंति ते सासयं सुक्खं॥ 70॥

अन्वय : सिरिसोमसूरिरइअं पज्जंताराहणं पसमजणणं जे सम्मं अणुसरंति ते सासयं

---

1. (अ) गुरुपइट्ठं
2. निसुणिउणं
3. (अ) पाविउण
4. (ब) आराहिऊण
5. (अ) तिहिं
6. कप्पो
7. (ब) पसमजणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुक्खं लहंति।

अनुवाद : श्रीसोमसूरि द्वारा रचित उत्कृष्ट रूप से कर्मों का शमन करने वाली पर्यन्त (सम्पूर्ण) आराधना को जो सम्यक् रूप से अनुसरण करते हैं, वे शाश्वत सुख अर्थात् निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

इति श्री आराधना प्रकरणं समाप्तं।*

लिखितं पं. श्री लाभविजयेन।

*(श्री आराधना प्रकरणावचूरि: !! संवत् 1665 वर्षे महोपाध्याय श्री श्री मुनि विजय गणि क्रमकजभमरायमाण पं. प्रेमविजय गणिना लिखितेयमिति भइम्म कुमरगिरिग्रामे शुभं भवतु लेखक पाठकयो-ब प्रति)

अनुवाद : आराधना प्रकरणावचूरि महोपाध्याय मुनि विजयगणि के योग्य चरणों में अनुरक्त पं. प्रेमविजयगणि द्वारा विक्रम संवत् 1665 में शुक्ल पक्ष की दशमी रविवार को कुमारगिरि नामक नगर में लिखी गई, जो लेखक और पाठक के लिए कल्याणकारी हो।

* * *

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट

(क) विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली

अतिशय : (गाथा, 31)

विशेष अथवा चमत्कारिक गुणों को अतिशय कहा गया है। सामान्य से हटकर विशेष गुणों की विद्यमानता से घटनाओं के घटने को अतिशय कहा है। ये 34 हैं।

1. जन्म के 10 अतिशय (स्वाभाविक अतिशय)।
2. केवलज्ञान के 11 अतिशय।
3. देवकृत 13 अतिशय।

अरिहंत : (गाथा, 34)

जिन्होंने अपने राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ रूप शत्रुओं को समाप्त कर दिया, वे अरिहंत कहलाते हैं।

आवश्यक : (गाथा, 54)

ण वसो अवसो अवसस्स, कम्ममावासगं ति बोधव्व।
जुत्तित्ति उवायत्ति य णिरवयवा होदि णिजुत्ति॥

(मू. आ. - 515)

अर्थात् जो राग-द्वेष, कषाय आदि के वशीभूत न हो वह 'अवश' है, उस अवश का जो आचरण है वह आवश्यक है, ये छः प्रकार के होते हैं -

1. सामायिक
2. चतुर्विंशतिस्तव
3. वन्दना
4. प्रतिक्रमण
5. प्रत्याख्यान
6. कायोत्सर्ग।

आहार : (गाथा, 60, 66)

त्रायाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः।

(स. सि. 2/30)

अर्थात् तीन शरीर और छः पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण करने को आहार कहते हैं। यह चार प्रकार का है -

1. अशन 2. पान 3. खादिम 4. स्वादिम।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म : (गाथा, 33)

आत्मप्रवृत्याकृष्टास्तत्प्रायोग्य पुद्गलाः कर्मः।

(जैन सिद्धान्तदीपिका - आ. तुलसी, 4/1)

अर्थात् आत्मा की प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट एवं कर्मरूप में परिणत होने योग्य पुद्गलों को कर्म कहते हैं।

ये आठ होते हैं — चार घाती कर्म - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय तथा चार अघाती कर्म — नाम, गोत्र, आयुष्य एवं वेदनीय।

कषायः (गाथा, 38)

रागद्वेषात्मकोत्तापः कषायः। (जैन सिद्धान्त दीपिका, 4/22)

अर्थात् रागद्वेषात्मक उत्ताप को कषाय कहते हैं। ये चार हैं - 1. क्रोध 2. मान 3. माया 4. लोभ।

केवलज्ञान - (गाथा, 43)

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य (तत्त्वार्थसूत्र 1/30)

अर्थात् जिसकी प्रवृत्ति सभी द्रव्यों एवं पर्यायों में हो, वह केवलज्ञान है। यह इन्द्रियों एवं मन की सहायता के बिना ही आत्मा में प्रकट होता है।

गति - (गाथा, 47)

देशाद्देशान्तर प्राप्ति हेतुर्गतिः। (स.सि. 4/21)

अर्थात् एक देश से दूसरे देश को प्राप्त करने का जो साधन है, उसे गति कहते हैं। गतियाँ चार प्रकार की हैं - नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति तथा देवगति। सिद्धगति को पाँचवीं गति के रूप में मानते हैं।

गुण - (गाथा, 9)

जो किसी वस्तु या व्यक्ति को विशेष बना दे, उसे गुण कहते हैं। गुण आठ होते हैं - 1. शंका रहित, 2. आकाँक्षा रहित 3. विचिकित्सा रहित 4. अमूढ़दृष्टिपना 5. उपवृहण 6. अस्थिरीकरण 7. वात्सल्य 8. प्रभावना।

गुप्ति - (गाथा, 13)

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः। (तत्त्वार्थसूत्र, 9/4)

अर्थात् योगों का भलीभांति निग्रह करना गुप्ति है। गुप्ति के तीन भेद हैं -

1. काय गुप्ति 2. वचन गुप्ति 3. मन गुप्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान - (गाथा, 5, 7)

'स्व' व 'पर' के बोध को ज्ञान कहते हैं। ज्ञान के पाँच भेद हैं - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।

निज स्वरूप में संशय-विमोह रहित जो स्व ज्ञान रूप ग्राहक बुद्धि है, वह सम्यक् ज्ञान हुआ, और उसका जो आचरण अर्थात् उस रूप परिणमन करना वह ज्ञानाचार है। ज्ञानाचार के आठ भेद हैं - काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यंजन तथा तदुभय।

चतुःशरण (गाथा, 4)

जैनधर्म में चार शरणभूत कहे गये हैं। जिनकी शरण में जाने से लोग दुःखों से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करते हैं। वे चार शरणभूत इस प्रकार हैं -

1. अरहंत 2. सिद्ध 3. साधु 4. केवली प्रज्ञप्त धर्म

चारित्र - (गाथा, 52)

चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्। (स.सि. 1/1)

अर्थात् जो आचरण किया जाता है अथवा जिसके द्वारा जो आचरण किया जाता है अथवा आचारण करना मात्र चारित्र है। चारित्र आठ प्रकार का कहा गया है - पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ।

तप - (गाथा, 24)

कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः। (स.सि. 9/6/797)

अर्थात् कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है, वह तप है। यह 12 प्रकार का होता है - बाह्य तप छह एवं आभ्यन्तर तप छह। वे इस प्रकार हैं -

बाह्य तप - अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्याशन और कायक्लेश।

आभ्यन्तर तप - प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान तथा व्युत्सर्ग।

दोष - (गाथा, 39)

निर्दोषपरमात्मनो भिन्ना रागादयो दोषाः। (द्र. स. टी. 14/46/11)

अर्थात् निर्दोष परमात्मा से भिन्न रागादि दोष कहलाते हैं। ये 42 हैं।

धर्म - (गाथा, 44, 45, 46)

संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे। (म. पु. 2/37)

अर्थात् जो प्राणियों को संसार के दुःख से उठाकर उत्तम सुख (वीतराग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख) में धारण करें, उसे धर्म कहते हैं।

परमेष्ठी - (गाथा, 68)

परम पदे तिष्ठति इति परमेष्ठी परमात्मा। (स्व. स्तो. टी. - 39)

अर्थात् जो परम पद में स्थित हो वह परमेष्ठी परमात्मा हैं। परमेष्ठी पांच हैं - अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु।

परिग्रह - (गाथा, 42)

मूर्च्छा परिग्रह। (त. सू., 7/17)

अर्थात् द्रव्यों के प्रति मूर्छाभाव परिग्रह है। परिग्रह नौ प्रकार के होते हैं - क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास तथा कुप्यप्रमाण।

पाप - (गाथा, 2, 29)

पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्। (सर्वार्थसिद्धि, 6/3)

अर्थात् आत्मा को शुभ कर्मों से बचाये, वह पाप है या अशुभ कर्म पाप है। यह 18 हैं - हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, कलह, कूट, पैशुन्य, रति-अरति, परपरिवाद, छल-छद्म, मिथ्या और शल्य।

प्रातिहार्य - (गाथा, 31)

जिनसे अर्हन्त सेवित होते हैं, उन्हें प्रातिहार्य कहते हैं। ये आठ प्रकार के होते है -

1. अशोक वृक्ष	2. तीन छत्र
3. रत्नखचित सिंहासन	4. भक्तियुक्त गणों द्वारा वेष्टित रहना
5. दुंदुभिनाद	6. पुष्पवृष्टि
7. प्रभामण्डल तथा	8. 64 चामर युक्तता।

मद - (गाथा, 33)

अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः। (र. क. श्रा. 1/25)

अर्थात् ज्ञानादि आठ प्रकार से अपना बड़प्पन मानने को गणधरादि ने मद कहा है। ये आठ प्रकार के हैं -

1. ज्ञान	2. पूजा (प्रतिष्ठा)	3. कुल (वंश)
4. जाति	5. बल	6. ऋद्धि
7. तप	8. शारीरिक सुन्दरता।	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि - (गाथा, 40)

मननमात्रभावमात्रतया मुनिः। (समयसार, आत्मख्याति - 151)

अर्थात् मनन मात्र भावस्वरूप होने से मुनि है।

मोक्ष - (गाथा, 25)

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। (त. सू. 10/2)

अर्थात् बन्ध हेतुओं (मिथ्यात्व, कषाय आदि) के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का अत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

व्रत - (गाथा, 2, 26)

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। (त. सू. 7/1)

अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह से (मन, वचन, काय द्वारा) निवृत होना व्रत है। श्रावकों के व्रत 12 हैं - 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत तथा 4 शिक्षाव्रत।

समवशरण - (गाथा, 32)

अर्हत् भगवान् के उपदेश देने की सभा का नाम समवशरण है। जहाँ बैठकर तिर्यंच, मनुष्य, देव-पुरुष व स्त्रियाँ सभी उनकी अमृतवाणी से कर्ण तृप्त करते हैं।

समिति - (गाथा, 13, 41)

सम्यगितिः समितिरिति। (रा. वा., 9/5)

अर्थात् सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति का नाम समिति है। ये पाँच प्रकार की हैं - ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग।

सिद्ध - (गाथा, 35)

निरस्तद्रव्यभावबन्धा मुक्ताः। (राजवार्तिक, 2/10)

अर्थात् जिनके द्रव्य और भाव रूप दोनों कर्म नष्ट हो गये हैं, वे सिद्ध (मुक्त) कहलाते हैं।

सुकृत - (गाथा, 4)

शुभः पुण्यस्य। (त. सू., 6/3)

अर्थात् शुभ कर्म ही पुण्य (सुकृत) हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ख - गा ानुक्रमणिका

आलोइसु अइयारो	(2)	जं पंचहिं समिइहिं	(13)
आवस्सयम्मि छब्भेए	(54)	जं भजणिया जिणाणं	(10)
आसायणं कुणंतो	(12)	जं भजिऊण तवमुग्गरेहिं	(36)
एगिंदिआण जं कहवि	(14)	जं भुंजिऊण बहुहा	(59)
एवं गुरुवइट्ठं	(67)	जं राइभोअणवेरमणाइं	(23)
एवं चउण्हं सरणं पवन्नो	(47)	जं विरइउं विणासो	(11)
कलहं अल्पक्खाणं	(29)	जं समत्तं निस्संकियाइं	(9)
कल्लाण-कोडि-जणणा	(44)	जं सुद्धनाण-दंसण-चरणाइं	(52)
काउं महुअरिविित्तिं	(39)	जिणभवण-बिब	(51)
कालविणयाई	(5)	जिणसिद्धसूरिउवज्झाया	(53)
किमिसंखसुत्तिपूअर	(15)	जे अट्ठकम्ममुक्का	(33)
कोलिअ-कुत्तिअ	(17)	जे चत्तसयलसंगा	(42)
खामेसु सव्व सत्ते	(27)	जे पंचसमिइसमिआ	(41)
गद्दहा कुंथुजूआ	(16)	जेण विणां चारित्तं	(58)
चउतीसअइसयजुआ	(31)	जेण सहाएण गयाणं	(64)
चउविहकसायचत्ता	(32)	जो केवलणाणदिवायरेहिं	(43)
चउसरणदुक्कड	(3)	जोगेसु मुक्खपहसाहगेसु	(25)
चत्तंमि जम्मि जीवाण	(62)	जो पावभरक्कंतं	(45)
छज्जीवनिकायवहो	(61)	जो सुलहो जीवाणं	(60)
जलयर-थलयर	(18)	झाणानलजोगेणं	(37)
जं इत्थ मिच्छत्त विमोहिएणं	(48)	झाण न जम्मो न जरा	(38)
जं कवडवावडेणं	(20)	तप्पत्तीरयणवई	(69)
जं कोहलोहभयहास	(19)	तरिऊण भवसमुद्दं	(35)
जंताणि जं जंतु दुहावहाइं	(50)	दिव्वं व माणुसं वा	(21)
जं तुमए नरनारएण	(57)	नमिऊण भणइ	(1)
जं धणधन्नसुवन्नं	(22)	नाणम्मि दंसणम्मि अ	(4)
जं पंचभेअनाणस्स	(7)	नाणाविहपावपरायणो वि	(63)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाणीण जं न दिन्नं	(6)	पुव्विं दुव्विन्नाणं	(56)
नाणोवगरणभूआणं	(8)	बाहिरमब्भिंतरियं	(24)
पवज्जइउं ज जिणधम्म	(49)	भवखित्ते अरुहंता	(34)
पंचपरमिट्ठिसमरण	(68)	लद्धम्मि जंमि जीवाण	(66)
पंचिंदिअदमणयरा	(40)	वोसिरसु इमाइं	(30)
पाणाइवायमलीकं	(28)	सग्गापवग्गपुरमग्ग	(46)
पाणाइवायविरमण	(26)	सिरिसोमसूरिरइअं	(70)
पुव्वकय पुन्नपावाण	(55)	सुलहाउं रमणीउं	(65)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. A Dictionary of Sanskrit Grammar By, Late Mahamahopadhyay Kashinath Vasudev Abhyankar, Oriental Institute, Baroda, 1986.
2. अनगार धर्मामृत - सम्पा. कैलाशचन्द शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1977
3. अमरकोश - अमरसिंहकृत, चौथा संस्करण, गवर्मेंट सेन्ट्रल बुक डिपो, मुम्बई, 1890
4. अष्टपाहुड - कुन्दकुन्दाचार्य, प्रकाशक - श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय ट्रस्ट सोनगढ़, वि.सं. 2038
5. आचारांग सूत्र, आचार्य तुलसी, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं।
6. उत्तरज्झयणाणि, आचार्य तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूं।
7. ऋग्वेद संहिता - चौखम्बा प्रकाशन, 1977
8. काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, प्रकाशक-ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, सन् 1960।
9. काव्यादर्श (दण्डि), प्रकाशक-भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, सन् 1928।
10. काव्यालंकार (भामह), चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, सन् 1928।
11. जिनरत्न कोश, हरिदामोदर वेलणकर, पूना, सन् 1944।
12. जैनदर्शन, डॉ. महेन्द्र कुमार जैन, श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला, प्रथम संस्करण, सन् 1955।
13. जैनदर्शन : मनन और मीमांसा, मुनि नथमल, आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राज.) सन् 1963।
14. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 1, 2, 3, 4, श्री जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, सन् 1993।
15. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-4, 6 लेखक- डॉ. मोहन लाल मेहता, डॉ. गुलाब चन्द चौधरी, प्रकाशक-पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, वाराणसी सन् 1973।
16. जैन सिद्धान्त दीपिका, आचार्य तुलसी, सम्पादक, अनुवादक-मुनि नथमल,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक-आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राज.) चतुर्थ संस्करण-1998।

17. तत्त्वार्थराजवार्तिक (राजवार्तिक) भट्ट अकलंक देव, सम्पादक-अनुवादक-प्रो. महेन्द्र कुमार, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, सन्-1990।
18. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामि विरचित, विवेचक- पं. सुखलाल संघवी, प्रकाशक-पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5, सन्-1976।
19. द्रव्यसंग्रह - श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास - 1989
20. दशवैकालिक - जैन विश्वभारती, लाडनूं - 1974
21. नाट्यशास्त्र (भरतकृत) बड़ौदा, सन्- 1926।
22. प्रकीर्णक ग्रंथ - आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर से पृथक्-पृथक् प्रकाशित प्रकीर्णक
23. पाइअ-सद्द-महण्णव, प्रकाशक-प्राकृत ग्रंथ परिषद्, वाराणसी, सन्-1963।
24. पाण्डुलिपि विज्ञान, सत्येन्द्र, राजस्थानी हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, सन्-1978।
25. प्राकृत पैंगलम्, सम्पादक-डॉ. भोलाशंकर व्यास, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी-5, सन्-1988।
26. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. नेमिचन्द शास्त्री, तारा पब्लिकेशन वाराणसी, सन्-1996।
27. प्राकृत साहित्य का इतिहास, डॉ. जगदीश चन्द जैन, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, सन्-1961।
28. प्राकृत हिन्दी-कोश, सम्पादक-के. आर. चन्द्र, प्रकाशक-प्राकृत एवं जैनविद्या विकास फण्ड, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण, सन्-1987।
29. भगवती आराधना, शिवार्य विरचित, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, सन्-1978।
30. भगवतीसूत्र - जैन विश्वभारती, लाडनूं - 1992
31. भारतीय दर्शन परिभाषा कोश, डॉ. दीनानाथ शुक्ल, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन्-1993।
32. भारतीय साहित्य शास्त्र-कोश, डॉ. राजवंश सहाय हीरा, बिहार ग्रंथ अकादमी, पटना, प्रथम संस्करण सन्-1980।
33. भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र, लेखक-डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशन, वाराणसी सन्-1960।

34. मंगलमन्त्र णमोकार: एक अनुचिन्तन, डॉ. नेमिचन्द शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, सन् 1989।

35. मूलाचार, श्रीमद्वट्टकेराचार्य विरचित, सम्पादक-सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, सन्-1992।

36. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, समन्तभद्र, ज्ञानपीठ प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, सन्-19[illegible]

37. वाचस्पत्यम् - भाग-1, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी - 1969

38. वेदान्तसार (श्री सदानन्द), व्याख्याकार-आचार्य बदरीनाथ शुक्ल, प्रकाशक-मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, प्रथम संस्करण सन्-1979।

39. शिक्षाग्रंथ (वेदाङ्ग)

40. सर्वार्थसिद्धि, आचार्य पूज्यपाद विरचित, सम्पादक-अनु. सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, पाँचवा संस्करण, सन्-1991।

41. संस्कृत-हिन्दी-कोश, वामनशिवराम आप्टे, वाराणसी, सन्-1966।

42. हलायुधकोश - सम्पा. जयशंकर जोशी, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ (उ.प्र.) 1967

卐 卐 卐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org
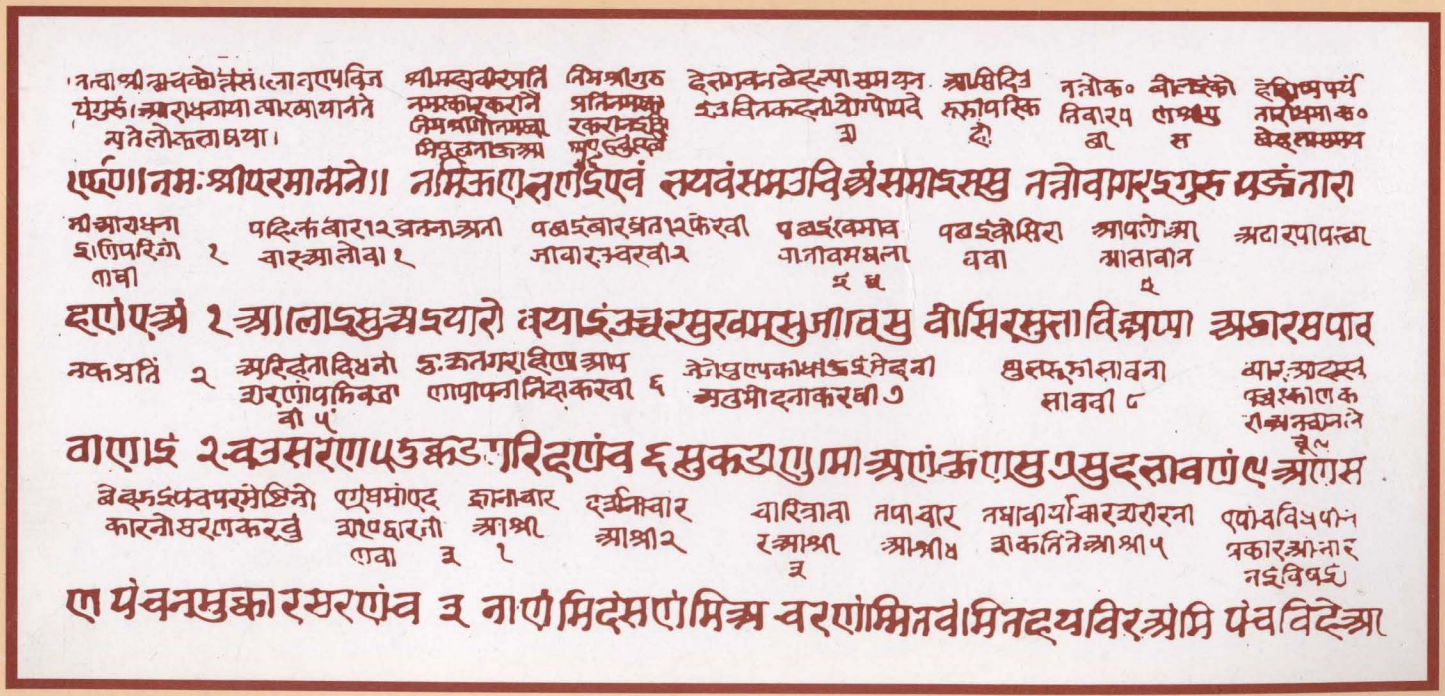
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org